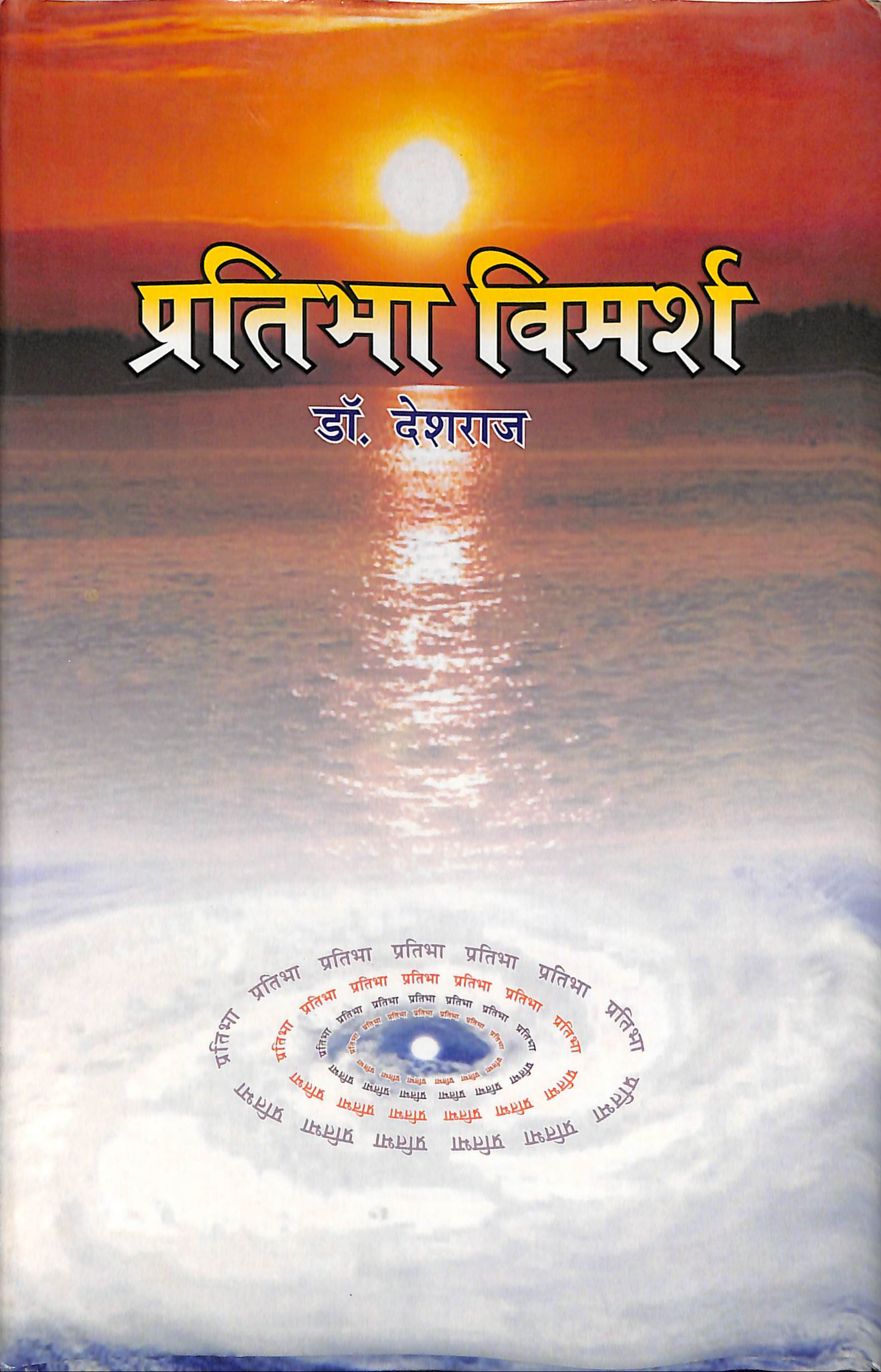
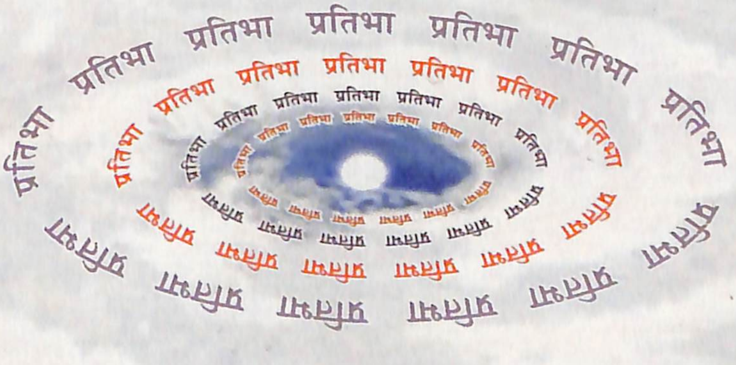
प्रतिभा विमर्श

डॉ. देशराज



प्रतिभा विमर्श

डॉ. देशराज



प्रतिभा विमर्श

प्रतिभा विमर्श

डॉ. देशराज
असिस्टेन्ट प्रोफेसर
संस्कृत विभाग
रामजस कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली-07

भारतीय विद्या प्रकाशन
दिल्ली वाराणसी

प्रकाशक :

भारतीय विद्या प्रकाशन

(1) 1 यू. बी. जवाहर नगर, बंग्लो रोड, दिल्ली–110007
फोन : 011–23851570, 23850944, 09810910450
E-mail : bvpbooks@gmail.com

(2) **न्यू भारतीय विद्या प्रकाशन**
पोस्ट बॉक्स 1108, सी.के. 32/30, नेपाली खपड़ा
वाराणसी–221001 (उत्तर प्रदेश)
फोन : 0542–2392376
E-mail : bbcbooks@gmail.com

अन्य प्राप्तिस्थान :

भारतीय बुक कारपोरेशन
5824, न्यू चन्द्रावल, (शिवमंदिर के पास)
जवाहर नगर, दिल्ली–110007
फोन : 011–23851570

संस्करण 2015

मूल्य : ₹ 300.00

ISBN : 978-81-217-0-266-9

मुद्रक : आर.के.आफसेट प्रोसेस, दिल्ली।

समर्पण

मेरी प्रथम गुरु प्यारी ममतामयी माँ एवं
पूज्यनीय पिता जी को जिनके वात्सल्य के
आँचल की छाँव तले जीवन की
ऊँची-नीची डगर में मैंने चलना
सीखा तथा जिसने अपने सुलझे
विचारों से सदा मेरा मागदर्शन
करते हुए मुझे सोचने की
नई दिशा दी एवं जिनकी
कर्तव्यनिष्ठा तथा अनवरत
श्रम करने की प्रवृत्ति मेरे
जीवन के आदर्श रहे हैं
उनके चरण-कमलों में
मेरी यह पुस्तक
समर्पित है।

पुरोवाक्

काव्य का कथ्य तत्त्वतः मानवीय संवेदनाओं और संचेतनाओं की अभिव्यक्ति को ही प्रमुख आधार बनाकर चलता है। यदि किसी साहित्यिक कृति में मानवीय भावनाओं, अनुभूतियों तथा संवेदनाओं का संस्पर्श नहीं है तो ऐसी रचना को काव्य की संज्ञा से कोई भी अभिहित नहीं करेगा। क्या मानवीय संवेदनाओं तथा भावानुभूतियों में स्वरूपतः नवीनता आ जाती है? इसी ज्वलन्त समस्या के समाधानार्थ संस्कृत साहित्यशास्त्र के आचार्यों ने कवि प्रतिभा की चर्चा की है। प्रतिभा क्या है?कविकर्म क्या है?इन दोनों विषयों पर विभिन्न विद्वान् मर्मज्ञों के जो विचार हैं, वो दर्शनीय, चिन्तनीय और विचारणीय हैं।

"कविकर्म काव्यम्" अर्थात् कवि का कर्म काव्य कहा जाता है। कवि के विषय में यह विचार सर्वविदित है कि वह जन्मजात होता है या काल एवं परिस्थितियों की देन। उभय पक्ष के समर्थन में अनेकानेक तर्क, दृष्टान्त विद्यमान हैं परन्तु एक सामान्य व्यक्ति भी जानता है कि प्रत्येक व्यक्ति कवि हो नहीं सकते अपितु जिन पर भगवती की कृपा है वह एक सफल कवि के रूप में परिगणित होता है। आनन्दवर्धन ने अपने ध्वन्यालोक में कहा है कि संसार में सर्वदा कवियों की एक उत्कृष्ट परम्परा रही है और भली-भाँति विचार के बाद हम इस निष्कर्ष पर उपनीत होते हैं कि वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, भास, भारवि इत्यादि ही कवि की उपाधि से विभूषित कहे जा सकते हैं। ध्वन्यालोककार ने कहा है-अस्मिन् अतिविचित्र कविपरम्परावाहिनी संसारे कालिदास प्रभृतयो द्वित्रः पञ्चशः एव वा महाकवयः इति गण्यन्ते। (ध्वन्यालोक वृत्ति 1-6)

भारतीय साहित्यशास्त्र की परम्परा में प्रायः सभी आलंकारिको ने इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है और जिन उपादानों एवं लक्षणों से समन्वित होने पर ही किसी कवि को सफलता का सौभाग्य प्राप्त होता है उन्हें शास्त्रीय दृष्टि से काव्यहेतु की संज्ञा दी गयी है। सामान्यतः काव्य के तीन हेतु बतलाये गये हैं-प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास। इसमें कवि प्रतिभा की भूमिका सृजनात्मक साहित्य के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

वैदिक साहित्य में उपनिषदों छान्दोग्य, महोमपनिषद्, शरभोपनिषद्, लाट्यायन श्रोतसूत्र, यास्क कृत निरुक्त में प्रतिभा सम्बन्धी अवधारणाएँ प्राप्त होती हैं। जैसे

छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है-'न वे मा प्रतिभान्ति भो।' (छान्दोग्योपनिषद्, 6/7/2।) वाल्मीकि रामायण में राम को प्रतिभावान कहा गया है। (रामायण, 1/1/15) महाभारत में 'प्रज्ञा' शब्द का प्रयोग भी मिलता है। 'मनीषी मनसा विप्रः पश्यात्मानमात्मनि।' (महाभारत, शान्तिपर्व 238/5) पुराण में प्रतिभा का एक रूप शैवदर्शन की ही भाँति जगत् की सृष्टि करने वाली शक्ति के रूप में मिलता है- 'चित्ते ब्रह्मकला नाम शक्तिः सर्वशरीरिणाम्' (मत्स्यपुराण, 13/33)।

भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों में प्रतिभा शब्द का प्रयोग प्रथमतः एक विशेष बौद्धिक या मानसिक शक्ति के रूप में तथा द्वितीय मनुष्य की चेतना में सत्य का प्रतिभास होना माना है। प्रतिभा वह तत्त्व है जिसके द्वारा मनुष्य सत्य का अव्यवहित रूप में साक्षात्कार करता है। वैशेषिक सूत्र में 'प्रतिभा' के लिए 'आर्षज्ञान' तथा 'आर्षदर्शन' शब्दों का प्रयोग हुआ है-'आर्षसिद्धदर्शनं च धर्मेभ्यः।' (वैशेषिक सूत्र, 9/2/13) सुषुप्ति और समाधि की दशाओं में मन, देश और काल की परिधि से ऊपर उठकर आत्म चैतन्य का साक्षात्कार करता है। यही प्रतिभा अथवा आर्षज्ञान है। न्यायदर्शन प्रतिभा को बुद्धि से भिन्न मानता है। इसलिए न्यायसिद्धान्तमुक्तावली में किसी भी ग्रन्थ की समाप्ति के लिए बुद्धि के साथ-साथ प्रतिभा को आवश्यक माना गया है। (न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, पृष्ठ 8) ऋतम्भरा प्रज्ञा को पतंजलि ने अपने योगसूत्र के विभूतिपाद में प्रतिभा के रूप में वर्णित किया है- 'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा।' (पातजंलयोगसूत्र, 1/42-49) चित्त की ज्योतिष्मती आदि प्रवृत्तियों के द्वारा प्रातिभ ज्ञान या प्रतिभा उत्पन्न होती है। यह प्रतिभा मनोमात्र जन्य है तथा अन्य किसी निमित्त की अपेक्षा नही रखती। प्रतिभा में चित्त स्थिर रहने पर साधक सर्वज्ञ हो जाता है। (योगसूत्र, 3/36-37) पतंजलि के इस विवेचन से संस्कृत काव्यशास्त्र का प्रतिभाविषयक मत अनुप्राणित होता है। काव्यशास्त्र के आचार्यों ने स्वीकार किया है कि जिस प्रकार योग की प्रज्ञा में स्थित होकर योगी वैयक्तिक सुख-दुःख से ऊपर उठ जाता है, उसी प्रकार की स्थिति प्रज्ञा के उन्मेष के समय कवि की होती है। वाल्मीकि की प्रतिभा से काव्य के प्रथम स्फुरण की चर्चा करते हुए ध्वन्यालोककार ने कहा है कि आदिकवि का वैयक्तिक शोक उनके काव्य में व्यंजित नहीं हुआ है- 'न तु मुनेः शोक इति मन्तव्यम्। एव हि सति तद्दुःखेन सोऽपि दुःखित इति कृत्वा रसस्यात्मेति निरवकाशं भवेत्।' अर्थात् उनका शोक अलौकिक प्रतिभाजन्य था। वे अयं निजः की धारणा से उर्ध्वस्थ थे। (ध्वन्यालोक लोचन, पृष्ठ 88)। मीमांसा दर्शन में अप्रत्यक्ष रूप से प्रतिभा को स्वीकार किया है। वह प्रतिभा को न स्वीकार करते हुए

शक्ति को तीन प्रकार से माना है- सहजा, आधेया और पदगा। श्लोकवार्तिक के मंगलाचरण में कुमारिल ने परमात्मा को तीन वेदों वाले दिव्यचक्षु के समान बताया है। इस दिव्यचक्षु शब्द का प्रयोग आत्मसाक्षात्कार या दिव्यज्ञान उपलब्ध करने वाली शक्ति के लिए होता है। वेदान्तदर्शन में प्रतिभा के लिए द्रष्टा या दृष्टि शब्द का प्रयोग करते हुए कहा है कि द्रष्टा की दृष्टि ऐसी शक्ति है, जिसका विपर्यय कभी नहीं होता- 'न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते।' (ब्रह्मसूत्र भाष्य, 4/3/23) शैवदर्शन में प्रतिभा को इस सृष्टि की मूल सर्जन-शक्ति के रूप मानते हुए शैवदर्शन के महान आचार्य अभिनवगुप्त ने कविगत संज्ञा दी है, जो रस का बीज है और यह प्रतिभा सर्जन शक्ति स्वरूपा है, अतः इसका दूसरा नाम शक्ति भी है- 'बीजं यथा वृक्षमूलत्वेन स्थितं तथा रसाः। सैव तु संवित् कविगत्।' (अभिनवभारती-1, पृष्ठ 294) वैयाकरण दर्शन में आचार्य भर्तृहरि ने 'वाक्यपदीयम्' में कहा है कि प्रतिभा एक ऐसी शक्ति है, जिसके द्वारा सब कुछ उत्पन्न होता है। स्फोट इसी प्रतिभा का एक रूप है। स्फोट मनुष्य की बुद्धि में रहने वाला वह तत्त्व है, जिससे अर्थ की प्रतीति होती है। यह प्रतीत होने वाला अर्थ ही प्रतिभा है। इन्होंने कहा है कि पदार्थों (पदों के अर्थों) से उपपादित होने वाला वाक्यार्थ ही प्रतिभा है-

'विच्छेदग्रहणेर्थानां प्रतिभान्येव जायते।
वाक्यार्थ इति तामाहुः पदार्थैरूपपादिताम्॥'

(वाक्यपदीयम, 2/5)

बौद्धदर्शन के विशुद्धिमग्ग में 'प्रतिभा' के समकक्ष पञ्ञा या प्रज्ञा का सुस्पष्ट लक्षण करते हुए कहा है कि-'कुशलचित्तसम्प्युक्तं विपस्सना आणं पञ्ञा।' (विशुद्धिमग्ग, 14/2) जैनदर्शन में जिस प्रकार प्रातिभज्ञान काल तथा स्नान से निरपेक्ष होता है, अर्थात् वर्तमान के अतिरिक्त भूत और भविष्य में विद्यमान दूरस्थ पदार्थ भी उसमें प्रतिभासित हो उठते हैं, उसी प्रकार जैनदर्शन में भी श्रमण या साधक को होने वाला अतीत या अनागत पदार्थों का साक्षात्कार करा देता है-अतीतानागतानामर्थाना वर्तमानकालसम्बन्धितया भावेपि अतीतानागतकालसम्बन्धितयाभावात्। (आस्पेक्टस ऑफ इण्डियन थॉट, पृष्ठ 37)।

काव्य जगत इस भौतिक जगत से सर्वथा विलक्षण है। इस विलक्षण जगत् का स्रष्टा या प्रजापति 'कवि' है, जिसकी इच्छा एवं रुचि में साथ इस जगत का संविधान

एवं संघटन बदलता रहता है–

'अपारे काव्य संसारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥'

(ध्वन्यालोक 3/143)

भारतीय चिन्तन में कवि और प्रजापति को एक दूसरे का पर्याय माना है। कवि और प्रजापति को परस्पर उपमित करने की प्रेरणा, संभव है कि काव्यशास्त्रियों ने कालिदास से ली है क्योंकि कालिदास ने अपने रघुवंश महाकाव्य में कहा है–'तं वैधा विदधे नूनं महाभूत समाधिना।' (रघुवंश, 1/29)

साहित्यशास्त्र के प्रारम्भिक आचार्य भामह ने माना है कि काव्य की सृष्टि एकमात्र प्रतिभावान के ही सामर्थ्य की ही बात है। क्योंकि इन्होंने कहा है कि गुरु के उपदेश से जडबुद्धि भी शास्त्रों का अध्ययन कर सकते हैं किन्तु काव्य किसी प्रतिभाशाली को कभी-कभी ही स्फुरित होता है–

'गुरुपदेशाध्येतुं शास्त्रं जड्धियोऽप्यलम्।
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित्प्रतिभावतः।'

(काव्यालंकार, 1/5)

आचार्य दण्डी ने भी कवि प्रतिभा पर चर्चा करते हुए कहा है–

'नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहुनिर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्या कारणं काव्यसम्पदः॥'

(काव्यादर्श)

आचार्य वामन ने अपनी कृति में प्रतिभा को ही कवित्व का बीज कहा है–'कवित्व बीजं प्रतिभानम्।'

आचार्य राजशेखर ने प्रतिभा के तीन भेद किये हैं–स्मृति, मति और प्रज्ञा। अतिक्रान्त अर्थात् व्यतीत विषय को उचित अवसर पर समुपस्थापित कराने वाली बुद्धि को स्मृति, वर्तमान में क्या करणीय है, क्या अकरणीय है कि निश्चयात्मिका बुद्धि का नाम 'मति' और 'अनागत' अर्थात् भावी विषय को यथावत समझने वाली बुद्धि को 'प्रज्ञा' कहा है। ये तीनों प्रकार की प्रतिभा कवियों के लिए अत्यन्त उपादेय हैं–त्रिधा च सा स्मृतिः मति प्रज्ञेति। अतिक्रान्तस्यार्थस्य स्मर्त्री स्मृतिः, वर्तमानस्य मन्त्री मतिः, अनागतस्त प्रज्ञात्री प्रज्ञा। सा त्रिप्रकारापि कवीनां उपकर्त्री। (काव्यमीमांसा)

वाग्भट के अनुसार कवि की झलकती हुई बुद्धि अथवा ज्ञान प्रतिभा है जो सर्वतोन्मुखी तथा नवीन दृष्टि की परिचायक हो। इनका कथन है कि–'स्फुरन्ती कवेर्बुद्धि प्रतिभा सर्वतोन्मुखी।' (वाग्भट, 1/4) साधारणतः प्रतिभा शब्द कवि की नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा के लिए हुआ है–'प्रज्ञानवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।' (काव्यकौतुक, भट्टतौत) आचार्य मम्मट ने प्रतिभा को 'शक्ति' नाम से उल्लेख किया है। यह काव्य की रचना का ही कारण नहीं है अपितु इसी शक्ति के चमत्कार से ही कोई काव्य सहृदयजनों का आदर-भाजन होता है। यदि किसी कवि में प्रतिभा नहीं है और वह काव्य निर्माण कर लेता है तो उसका काव्य उपहास का विषय बन जाता है। सहृदयजन उसका आदर नहीं करते है–'शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कार विशेषः यां बिना काव्यं न प्रसरेत् प्रसृतं वा उपहसनीयं स्यात्।' (काव्यप्रकाश, 1/3 वृत्तिभाग) आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है कि–'प्रतिभा नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा।' (काव्यानुशासन, प्रथम अध्याय, पृष्ठ 06) आचार्य अभिनवगुप्त ने भी अपूर्व वस्तु की रचना में दक्ष प्रज्ञा को प्रतिभा कहा है–'प्रतिभा अपूर्ववस्तु निर्माण क्षमा प्रज्ञा।' इन्होंने शक्ति और प्रतिभा में एकरूपता को स्वीकार किया हैं–

'शक्तिः प्रतिभानं वर्णनीय वस्तु विषपदे नूतनोल्लेखशालित्वेम्।
व्युत्पत्तिस्तदुपयोगी समस्त वस्तु पौर्वापर्य परामर्श कौशलम्।।'

(ध्वन्यालोक लोचन)

आचार्य महिमभट्ट ने भी रस विनियोग के प्रति जागरूक कवि की प्रज्ञा को प्रतिभा माना है जो क्षण मात्र में ही वस्तु या विषय स्वरूप को ग्रहण करने में सिद्ध हस्त है। कवि की यह प्रतिभा भगवान शिव के तृतीय नेत्र के समान होती है। जिससे वह कवि त्रिलोकदर्शी होकर समस्त भावों का अनायास ही साक्षात्कार कर लेता है। इन्होंने कहा है कि–

'रसानुगुणशब्दार्थचिन्तास्तिमितचेतसः।
क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः।।
सा हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते।
येन साक्षात्कारोत्येष भावांस्त्रैलोक्यवर्तिनः।।'

(व्यक्तिविवेक, 2/111-112)

कहने का आशय यह है कि वस्तु का जो विशिष्ट रूप है, उसे प्रतिभा प्रत्यक्ष के समान दिखा देती है। जब कवि का चित्त रस के अनुकूल शब्द और अर्थ की चिन्ता में निश्छल हो जाता है, इस क्षण उसके भीतर उत्पन्न होने वाली प्रज्ञा ही प्रतिभा है। यह

प्रतिभा शंकर के तृतीय नेत्र के प्रमाण होती है। जिसके द्वारा कवि तीनों लोकों के पदार्थों का साक्षात्कार करता है। आचार्य पंडितराज जगन्नाथ ने काव्य का हेतु प्रतिभा को माना तथा प्रतिभा का लक्षण प्रस्तुत किया–'सा हि काव्यघटनानुकूल शब्दार्थोपस्थितिः।' (रसगंगाधर, प्रथम आनन)

प्रतिभा पाश्चात्य जगत में प्रथम अभिव्यक्ति है। प्लेटों, अरस्तु, लोजाइंस अलेक्जेण्डर पोप, क्रोञ्चे, एस॰ टी॰ कोलरिज, पी॰ वी॰ शेले तथा काण्ट इत्यादि विद्वानों ने प्रतिभा सम्बन्धी विचार को प्रकट किया है। इसमें विद्वान् प्लेटों का कथन है कि वह न तो लेखक था न कवि किन्तु काव्य देवी की प्रेरणा से वह अपने महान साहित्यिक कार्य में सफल हुआ। लोजाइंस ने भी कहा है कि प्रतिभा सम्पन्न कलाकार मात्र अपनी ही बात नही मनवाता बल्कि श्रोता या दर्शक को एक विशिष्ट लोक में ले जाता है, लेकिन वह रचना तभी प्रभावशाली और शक्तिशाली मानी जाएगी, जब श्रोता को आत्मविस्तृत कर दे। यह गुण प्रतिभा एवं कला के द्वारा ही आता है। अलेक्जेण्डर पोप ने कहा कि प्रत्येक कवि और आलोचक को प्रतिभा सम्पन्न होना चाहिए। प्रतिभा ईश्वर प्रदत्त होती है। क्रोञ्चे ने ज्ञान को दो प्रकार का माना है–1. स्वयं प्रतिभा ज्ञान 2. दूसरा तर्कज्ञान। स्वयं प्रकाश ज्ञान बिम्बों की रचना करता है तो प्रज्ञात्मक ज्ञान बोध की। एस॰ टी॰ कोलरिज ने कहा कि किसी युग की कविता पर विचार करते समय कविता, कवि तथा उसकी प्रतिभा तीनों पर ध्यान रखना चाहिए। प्रतिभा के अन्तर्गत परिमार्जित बिम्ब, विचार, भावनाएँ तथा उसका मानसिक जगत भी आता है। इस निर्माण कुशल प्रतिभा को इंसक्लस्टिक इमैजिनेशन के नाम से कहा है।

संस्कृत काव्यशास्त्र की अवरुद्ध अथवा स्थगित काव्यशास्त्रीय चिन्तन की धारा को आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी, आचार्य चण्डिका प्रसाद शुक्ल, ब्रह्मानन्द शर्मा, आचार्य अभिराजराजेन्द्र मिश्र, आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी, आचार्य शिवजी उपाध्याय, आचार्य रहस बिहारी द्विवेदी ने उन्मुक्त भाव से बढ़ाते हुए प्रतिभा सम्बन्धी विचारों को प्रकट किया। पं॰ श्रीपाद शास्त्री हसूरकर ने शक्ति को ही प्रतिभा माना है–

'शक्तिनिर्पुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञ शिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तद्धुवे।।'

(साहित्यमञ्जरी पृष्ठ 01)

कौत्स अप्पल सोमेश्वर शर्मा ने कहा है कि प्रतिभा अन्य जन्मों के पुण्य कर्मों से प्राप्त तथा देवताओं अथवा महापुरुषों के कृपाप्रसाद से उत्पन्न हुआ कवित्व बीजरूप

संस्कार विशेष है–'स च जमान्तरसुकृतागतो देवतामहापुरुषप्रसादादि जन्म वा। कवित्व बीजरूप संस्कारविशेषः।। (साहित्यविमर्श, द्वितीय परिच्छेद पृष्ठ 36)। आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी ने प्रतिभा के बारे में कहा है कि अर्थों का प्रकाशित होना ही प्रतिभा है। यह प्रज्ञारूपी मेघमाला के अन्तर्गत विद्युत के झलक के समान होती है। भगवान के कृपापात्र नारद आदि के चित्त में अपने स्वरूप का दर्शन जिस प्रकार होता है, उसी प्रकार की प्रतिभा होती है–

'सा चार्थ-प्रतिभासनम्।
प्रज्ञाकादम्बनी-गर्भे विद्युदुद्योत सोदरम्।।
नारदादि कृपापात्र चेतोधातौ जगत्प्रभोः।
प्रथमं स्व-स्वरूपस्य दर्शनं यत् तदीदृशम्।।'

(काव्यालंकारकारिका, द्वितीय अधिकरण, कारिका, 11–12)

प्रो॰ राधावल्लभ त्रिपाठी ने कहा है कि कविस्वभाव ही प्रतिभा है और इस प्रतिभा का मुख्य लक्षण स्पन्द है–'यद्यपि प्रतिभा सर्वजनीना, स्पन्दस्तु कविप्रतिभायाः स्वभावः।' कविस्वभाव एव तत्प्रतिभा। (अभिनव काव्यालंकारसूत्रम्, प्रथम अधिकरण अध्याय 03) प्रो॰ अभिराज राजेन्द्र मिश्र ने प्रतिभा का नाम न लेते हुए उसके स्थान पर प्रज्ञा शब्द का प्रयोग किया है और उसकी उत्पत्ति जन्म-जन्मान्तर के संस्कार से मानी हैं। उसके अभाव में शास्त्रों का पाण्डित्य प्राप्त होने पर भी कवित्व का बीज अंकुरित नहीं होता–

प्रज्ञा बीजं कवित्वस्य शक्तिरूपा चिरन्तनी।
जन्मजन्मान्तरोपात्त संस्कार प्रसवामला।
मृत्तिकाजलवायूनां सद्भावेऽपि यथाङ्कुरः।
बीजोऽसि धरागर्भे नैव परोहा नैव जातु।।

(अभिराजयशोभूषणम् प्रथमोन्मेष, काव्यहेतु प्रकरण, पृष्ठ 36–37)

इस प्रकार विभिन्न विद्वानों ने प्रतिभा का विविध दृष्टियों से विवेचन किया है। प्रतिभा को कवित्व का बीज, काव्य निर्माण की शक्ति तथा अपूर्व वस्तु निर्माण क्षमा प्रज्ञा इत्यादि विशेष पदों से पुकारा है। प्रतिभा काव्य का निश्चयेन कारण है क्योंकि इसके बिना काव्य रचना का प्रार्दुभाव असम्भव है। प्रतिभा के प्रस्फुरण से ही उत्तमोत्तम, परिस्कृत, सुसंस्कृत रस सम्भार सम्पन्न काव्यों का उद्भव होता है। अतः प्रतिभा ही काव्य का बीज है।

इस पुस्तक में कुल छ अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में प्रतिभा के अर्थ, उसके सृष्टि एवं दृष्टि द्विविध पक्ष, स्वरूप, बीज एवं कार्य का गहन विश्लेषण किया है। द्वितीय अध्याय में वेद, इतिहास एवं पुराण में प्रतिभा सम्बन्धी मान्यताओं का विवेचन किया है। तृतीय अध्याय में भारतीय दर्शन, न्याय, वैशेषिक, योग, मीमांसा, शैव, व्याकरण, बौद्ध एवं जैन में निहित प्रतिभा सम्बन्धी विचार को उजागर किया है। चतुर्थ अध्याय में संस्कृत कवियों एवं काव्यशास्त्रियों की प्रतिभा सम्बन्धी अवधारणा को स्पष्ट किया है। पञ्चम अध्याय में पाश्चात्य विद्वानों प्लेटो, काण्ट, शेले इत्यादि के प्रतिभा सम्बन्धी विचार को प्रकट किया है। षष्ठ अध्याय आधुनिक संस्कृत काव्यशास्त्रियों के प्रतिभा सम्बन्धी मत को दर्शाया है।

डॉ॰ देशराज मेरे प्रबुद्ध शोध छात्रों में से हैं। इन्होंने स्वतन्त्र रूप से 'प्रतिभा विमर्श' नामक मौलिक पुस्तक का लेखन कार्य किया है। इसके लिए मैं डॉ॰ देशराज को हार्दिक बधाई एवं आर्शीवाद प्रदान करता हूँ और आशा करता हूँ कि वे भविष्य में भी इसी प्रकार सुचिन्तित और मौलिक कार्यों में प्रवृत्ति बनाये रखेंगे।

Pk Pande

डॉ॰ पी॰ के॰ पण्डा

एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, रामजस महाविद्यालय,

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110007

प्राक्कथन

जब मैंने 2008 में संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली एम॰ फिल॰ में शोध कार्य हेतु प्रवेश प्राप्त किया तो उस समय मुझे 'रसगंगाधर में प्रतिपादित प्रतिभा का स्वरूप' विषय पर शोध करने के लिए विभागीय स्वीकृति प्राप्त हुई और मैने सहर्ष इस विषय पर शोध कार्य किया। इसके उपरान्त जब मुझे कई विश्वविद्यालयों तथा महाविद्यालयों में प्राध्यापक पद हेतु साक्षात्कारो का सामना करना पड़ा तो विभिन्न गुरुजनों के द्वारा विभिन्न क्षेत्रों वेद, साहित्य-पुराण भारतीय दर्शन, संस्कृत कवियों तथा काव्यशास्त्रियों एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों तथा आधुनिक संस्कृत काव्यशास्त्री आचार्यों के मत में प्रतिभा सम्बन्धी विचार को पूछा गया तब इस विषय पर मेरी जिज्ञासा व्यापक रूप से प्रगाढ़ हुई। तब मेरा मन इस विषय पर अध्ययन तथा लेखन कार्य करने के लिये प्रेरित हुआ। इसी क्रम में अध्ययन करते हुए **'प्रतिभा विमर्श'** नामक ग्रन्थ सुधीपाठको के समक्ष प्रस्तुत कर सका। यदि इससे छात्रवर्ग का कुछ भी उपकार सम्भव हुआ तो मै अपना प्रयास सफल समझूँगा।

विश्व वाङ्मय में भारतीय काव्य-चिन्तन भारत की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण देन है। काव्य सिद्धान्तो के चिंतन-मनन की जैसी सुदीर्घ परम्परा एवं उनका व्यापक गहन और सूक्ष्म आविष्कार एवं विवेचन हमारे यहाँ हुआ है, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं हुआ है। अपने इस ज्ञान कोष पर हमें गर्व है तथा इस ज्ञान भण्डार की सुरक्षा, संवर्द्धन तथा आधुनिक युग के सन्दर्भों में इसकी प्रासंगिकता का अध्ययन-मनन कितना महत्वपूर्ण कार्य है यह बताने की जरुरत नहीं। प्रस्तुत पुस्तक में इसी महत् उद्देश्य की पूर्ति का प्रयास किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ छः अध्यायों में विभक्त है।

प्रथम अध्याय : 'प्रतिभा : स्वरूप, बीज, कार्य' में प्रतिभा के अर्थ उसके सृष्टि तथा दृष्टि द्विविध पक्ष, स्वरूप, बीज, एवं कार्य का विवेचन किया गया है।

द्वितीय अध्याय : 'वैदिक साहित्य, इतिहास एवं पुराणों में प्रतिभा' में वेद, इतिहास एवं पुराण में प्रतिभा सम्बन्धी मत को स्पष्ट किया गया है।

तृतीय अध्याय : 'भारतीय दर्शन में प्रतिभा' में न्याय वैशेषिक, योग, मीमांसा, शैव शास्त्र, व्याकरण, बौद्ध एवं जैन दर्शन में प्रतिभा सम्बन्धी विचार को स्पष्ट किया गया है।

चतुर्थ अध्याय : 'संस्कृत कवियों एवं काव्यशास्त्रियों की दृष्टि में प्रतिभा' में कवियों कालिदास, भारवि, भवभूति, अश्वघोष, बालचन्द्र, महाकवि विल्लण, नीलकण्ठ दीक्षित के प्रतिभा सम्बन्धी विचार तथा काव्यशास्त्रियों भरत, भामह, दण्डी, वामन, रुद्रट, वाग्भट, आनन्दवर्धन, कुन्तक, मंगल, राजशेखर, भट्टतौत, अभिनवगुप्त, महिमभट्ट इत्यादि के प्रतिभा सम्बन्धी विचार को विवेचित किया गया है।

पंचम अध्याय : 'पाश्चात्य काव्यशास्त्र में प्रतिभा' में प्लेटों, एस॰ टी॰ कोलरिज, लोजांइस, अलेक्जेण्डर पोप, आई॰ ए॰ रिचर्डस, मैथ्यू आर्नल्ड, जॉक मारिते, क्रोञ्चे, अरस्तू, काण्ट, शैली इत्यादि का विवेचन किया गया है।

षष्ठ अध्याय : 'आधुनिक संस्कृत काव्यशास्त्र में प्रतिभा' में पंडित श्री पाद शास्त्री हसूरकर, कौत्स अप्पल्ल सोमेश्वर शर्मा, छज्जूराम शास्त्री, श्री रेवाप्रसाद द्विवेदी, ब्रह्मनन्द शर्मा, पंडित गिरिधर लाल व्यास, प्रो॰ शिवजी उपाध्याय, डा॰ हरिश्चन्द्र दीक्षित, डा॰ रमाशंकर तिवारी, डा॰ शंकर देव अवतरे, प्रो॰ अमरनाथ पाण्डेय, प्रो॰ रामप्रताप वेदालंकार, प्रो॰ राधावल्लभ त्रिपाठी, प्रो॰ रहस बिहारी द्विवेदी, प्रो॰ राजेन्द्र मिश्र आदि के प्रतिभा सम्बन्धी विचार का अध्ययन किया गया है।

आभार

किसी भी सृजनात्मक कार्य के सफल समापन की स्थिति में उन प्रेरक एवं मार्गदर्शक विभूतियों का कृतज्ञता पूर्ण स्मरण सदैव ही गौरव एवं आत्मसन्तोष का विषय होता है। अपने अध्ययन एवं लेखनकार्य सम्पन्न करने की प्रक्रिया पर दृष्टिपात करता हूँ तो मुझे लगता है कि अपने गुरुजन एवं स्वजन आदि की सहायता के बिना यह कार्य सम्पन्न हो ही नहीं सकता था, क्योंकि उनके गहन ज्ञान, सुदीर्घ अनुभव परम्परा एवं स्नेहपूर्ण सहयोग ने मेरे कार्य के मार्ग को प्रशस्त किया है।

सर्वप्रथम मैं अनादि, अनन्त, अचिन्त्य, सर्वान्तर्यामी जगदाराध्य जिसके नाना नाम व रूप हैं, जिनकी प्रेरणा से सृष्टि का कण-कण संचालित होता है, जिनकी इच्छा ही सृष्टि के संहार का हेतु बनती है एवं जिनकी कृपा ही सृष्टि के उल्लास का कारण है उस करुणावरुणालय परमेश्वर के चरणों में कोटिशः नमन एवं वन्दन करते हुए हृदय से कृतज्ञ हूँ।

जिन प्रातः स्मरणीय पूज्य गुरुजनों के चरणों में बैठकर मैंने विद्याध्ययन किया है उनका ऋण शोधन करना तो अनेक जन्मों में भी सम्भव नहीं है तथापि मेरा यह बाल प्रयास यदि उनके मन में सन्तोष और प्रसन्नता का स्वल्प भी भाव उत्पन्न कर सका, तो मैं समझूँगा कि मेरे समय का सदुपयोग और परिश्रम का सफल परिपाक हुआ है। इस पुस्तक में जो कुछ रमणीयता, निर्दोषिता और कल्याणकारिता है वह अभिवन्दनीय गुरुजनों का तथा पुरातन और अधुनातन महापुरुषों का पुण्य प्रसाद है, तथा जो असंगतियाँ और अपूर्णताएँ वे मेरी ही प्रतिच्छवियाँ हैं। कृतज्ञता की इसी परम्परा में मैं अपने गुरुवर्या प्रो॰ शारदा शर्मा संस्कृत विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली का बहुत ही आभारी हूँ जिनका ममतापूर्ण वात्सल्य हमेशा मुझे प्राप्त होता रहता है।

मुझ जैसे अकिञ्चन के लिए पूज्य चरण गुरुदेव एसोसिएट प्रोफेसर डॉ॰ पी॰ के॰ पण्डा अध्यक्ष संस्कृत विभाग, रामजस कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली ने अपने जिस अगाध स्नेह और वात्सल्य की वर्षा की है उसके लिए

धन्यवाद देना तो उनका लाघव करना है वस्तुतः मेरे साहित्यशास्त्रीय ज्ञान को प्रौढ़ बनाने एवं साहित्यशास्त्रीय सिद्धान्तों को समझने में आने वाली कठिनाइयों का निवारण करने में सदा ही गुरुदेव का मार्गदर्शन एवं सहायता समय-समय पर प्राप्त होता रहता था अतः यह पुस्तक **'प्रतिभा विमर्श'** इन्हीं गुरुदेव का पावन प्रसाद है, इन्हीं के चरणों में बैठने का पुण्यफल है। साथ ही मैं मातृस्वरूपा डॉ० नीरजा पण्डा का बहुत ही आभारी हूँ, जिनका ममतापूर्ण वात्सल्य निरन्तर मुझे प्राप्त होता रहता है।

मैं रामजस कॉलेज दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली के यशस्वी, अध्यवसायी एवं कर्म को ही जीवन का पर्याय समझने वाले अभिवन्द्य एवं अभिनन्द्य प्राचार्य डॉ० राजेन्द्र प्रसाद, उपप्राचार्या सहृदयमना डॉ० नलिनी निगम तथा वरिष्ठ प्राध्यापिका संस्कृत विभाग, पूज्यनीया डॉ शरदलता शर्मा के प्रति सर्वदा आर्शीवादाभीप्सु और अभिविनत हूँ क्योंकि इनके शुभाशीष एवं वात्सल्य से ही मैं प्रस्तुत कार्य को परिपूर्ण करने में समर्थ हुआ।

मैं अपने भातृतुल्य सुहृद श्री ललित जी, श्री हरी सिंह जी, श्री राजेन्द्र जी, श्री धर्मेन्द्र जी डॉ० राजमङ्गल यादव, डॉ० अनीश मिश्र, डॉ० प्रमोद कुमार सिंह का हृदय से धन्यवाद प्रकट करता हूँ जिनका निर्व्याज स्नेह मुझे निरन्तर प्राप्त होता रहता है।

पूज्या माता श्रीमती कान्ति देवी यादव एवं पूज्य पिता श्री राजाराम यादव ने लालन-पालन और शिक्षण सब प्रकार से मुझे समर्थ बनाने का अनुकरणीय प्रयास किया है। माता-पिता के ऋण से तो वैसे भी उऋण नहीं हुआ जा सकता है अतः मैं उनकी कृतज्ञता शब्दों में नहीं अभिव्यक्त कर सकता। इसके साथ ही साथ मैं अपने छोटे भाइयों एवं बहनों को भी साधुवाद प्रदान करता हूँ जिनकी सेवा, प्रेम, धैर्य और प्रोत्साहन भी मेरे इस कार्य को एक महान् रूप दिया।

दिल्ली विश्वविद्यालय के उत्तरी परिसर एवं दक्षिणी परिसर के पुस्तकालयों, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान के पुस्तकालयों एवं इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र के सभी सदस्यों का मैं धन्यवाद प्रकट करता हूँ जिन्होंने पुस्तकों की प्राप्ति में अपना अमूल्य सहयोग दिया।

अन्त में श्री रमन जैन, व्यवस्थापक भारतीय विद्या प्रकाशन का अत्यन्त आभारी हूँ जिन्होंने सम–विषम परिस्थितियों में रहकर भी कठिन परिश्रम से इस पुस्तक को प्रकाशित कर जिज्ञास पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत किया।

सब कुछ ध्यान पूर्वक करने पर भी यदि इस पुस्तक में किसी भी प्रकार की त्रुटी रह गयी है तो उसके लिए लेखक क्षमा प्रार्थी हैं।

"अज्ञानाद् प्रमादाद् वापि दोषो मे स्यात् क्वचित् क्वचित्।
तत्रौदार्यं विधातव्यं समाधेयं च सज्जनैः॥"

डॉ॰ देशराज
असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग,
रामजस कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली–110007

विषयानुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

प्रतिभा : स्वरूप, बीज, कार्य

प्रतिभा का साम्राज्य बड़ा ही विस्तृत तथा विशाल होता है। अर्थ और शब्द, स्फुरणा तथा अभिव्यंजना, दर्शन तथा वर्णन, प्रख्या तथा उपाख्या इस नित्यसम्बन्ध-युगल का उन्मीलन प्रातिभ ज्ञान से ही कवि करता है। जब तक इस युगल की अभिव्यक्ति नहीं होती, तब तक कोई भी व्यक्ति कवि की महनीय पदवी का भाजन नहीं बनता। कवि होने के लिये तत्त्वद्रष्टा होने के अतिरिक्त शब्दस्रष्टा होने की नितान्त आवश्यकता है। कतिपय तत्त्वज्ञों का तो यहाँ तक कहना है कि अभिव्यंजना ही स्फुरणा का चरम पर्यावसान है तथा वर्णन ही दर्शन की परिनिष्ठित कोटि है।

प्रतिभा प्रज्ञा का ही एक विशेष रूप है।[1] प्रायः आचार्यों ने प्रज्ञा के माध्यम से ही प्रतिभा का परिचय कराया है। आचार्य राजशेखर ने बुद्धि के तीन रूप दिखाते हुए कवि के लिए तीनों को उपयोगी बताया है। ये तीन रूप हैं- स्मृति, मति और प्रज्ञा। **'स्मृति'** अतीत विषय का स्मरण कराने वाली बुद्धि विशेष का नाम है। वर्तमान का बोध कराने वाली **'मति'** है। अनागत की संज्ञा करा देने वाली बुद्धि

---

1 (क) प्रज्ञा नव- नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।

डा॰ एच॰ डी॰ शर्मा काव्यप्रकाश द्वितीय उल्लास पृष्ठ 15

(ख) "प्रतिभा अपूर्व-वस्तुनिर्माण क्षमा प्रज्ञा।

तस्याः विशेषो रसावेशवैशद्यसौन्दर्यकाव्यनिर्माणत्क्षमत्वम्।।" ध्वन्यालोक (लोचन) पृष्ठ 12

'प्रज्ञा' है।[2] आचार्य राजशेखर ने प्रज्ञा का सम्बन्ध अनागत से जोड़ा है, किन्तु काव्यप्रकाश के टीकाकार विद्याधर चक्रवर्ती ने अपनी 'सम्प्रदाय प्रकाशिनी' टीका में प्रज्ञा को त्रैकालिकी कहा है। उनके अनुसार स्मृति का अतीत से, मति का अनागत से, बुद्धि का वर्तमान से तथा प्रज्ञा का तीनों कालों से सम्बन्ध होता है।[3] विद्याधर यह भी मानते हैं कि वाणी के दो क्रीड़ा क्षेत्र हैं- शास्त्र एवं काव्य। प्रज्ञा का दर्शन शास्त्र में होता है तथा प्रतिभा के माध्यम से काव्य की सृष्टि होती है। इस प्रकार तीनों कालों में नूतन उन्मेष शालिनी प्रज्ञा ही 'प्रतिभा' है।[4]

1.1 'प्रतिभा' शब्द का अर्थ

प्रतिभा शब्द प्रति उपसर्गपूर्वक 'भा' धातु एवं 'क' तथा टाप् प्रत्यय से निष्पन्न है। जिसका अर्थ प्रकाश, प्रभा, मेधा, प्रखर बुद्धि, बिशद कल्पना, प्रतिबिम्ब, दृष्टि या दर्शन आदि कोश ग्रन्थों में पाया जाता है।[5] अर्थात् प्रतिभा वह ज्योतिविशेष या प्रकाश विशेष है जिसके संस्पर्श से वस्तु ज्योतिर्मय हो उठती है, तथा इसका प्रयोग उस असाधारण मानसिक शक्ति के अर्थ में किया जाता है, जो विषय को तुरन्त चेतना में प्रकाशित कर देती है।

1.1.1 प्रतिभा के द्विविध पक्ष-

प्रतिभा के दो पक्ष होते हैं- 1. दृष्टि पक्ष 2. सृष्टि पक्ष। दृष्टि पक्ष के अनुसार प्रतिभा विश्व के रूप-निरीक्षण का एक प्रकार है। सृष्टि पक्ष में प्रतिभा नवीन सृष्टि की साधिका शक्ति है।

---

2 "त्रिधा च सा बुद्धिः - स्मृतिर्मतिः प्रज्ञेति। अतिक्रान्तस्यार्थस्य स्मत्री स्मृति। वर्तमानस्य मन्त्री मतिः। अनागतस्य प्रज्ञात्री प्रज्ञेति। सा त्रिधाऽपि कवीनामुपकत्री।" काव्यमीमांसा पृष्ठ 24

3. स्मृतिर्व्यतीतविषया मतिरागामिगोचरा।
बुद्धिस्तात्कालिकी ज्ञेया प्रज्ञा त्रैकालिकी मता। (सम्प्रदाय प्रकाशिनी) काव्यप्रकाश, पृष्ठ 13

4. प्रज्ञानवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभां विदुः। द्वे वर्त्मनी गिरो देव्याः शास्त्रं च कविकर्म च। प्रज्ञोपज्ञं तयोराद्यं प्रतिभोद्भवमन्तिमम्।। वही पृष्ठ 13-14

5. संस्कृत हिन्दी कोश पृष्ठ 654

क. दृष्टि पक्ष

प्रतिपक्ष नित्यनूतन रूप धारण करने वाले नानावस्था- संवलित वैषम्यमण्डित पदार्थ-पुञ्ज का ही अभिधान जगत् है। इस जगत के अन्तर्निहित तथ्य के निर्धारण करने में विद्वान और कवि दोनों ही समर्थ होते हैं। प्रज्ञा और प्रतिभा दोनों ही मानव के दो अध्यात्मिक लोचन है जिनके द्वारा वह जगत् को देखता है, समझता है और व्याख्या करता है, जिस प्रकार दार्शनिक विद्वान प्रज्ञा के बल पर जगत की बौद्धिक व्याख्या करने में कृतकृत्य होता है, उसी प्रकार कवि प्रतिभा के आश्रय से जगत की भावमयी व्याख्या करने में कृतार्थ होता है। सच तो यह है कि हमारे साहित्य में कवि शब्द का तात्पर्य विस्तृत, व्यापक तथा विशाल है। **कवयः क्रान्तदर्शिनः** अर्थात् कवि का मूल अर्थ है द्रष्टा, इन्द्रियों से अगोचर तत्त्वों का साक्षात्कार करने वाला व्यक्ति। 'कवि' 'ऋषि' का ही पर्यायवाची सूक्ष्म शब्द है। शब्दों के माध्यम के द्वारा जगत् के अर्न्तगत रहस्यों का व्याख्याता। उसी प्रकार 'कवि' है, जिस प्रकार अध्यात्मशास्त्र के तत्त्व का वेत्ता विद्वान्। दोनों ही 'कवि' हैं। दोनों ही सृष्टितत्व के मार्मिक व्याख्याता हैं। अन्तर इतना ही है कि विद्वान प्रज्ञा के सहारे जो गूढ़ कार्य सम्पन्न करता है, वही कार्य कवि प्रतिभा के आधार पर करता है। मनुष्य को प्रज्ञा तथा प्रतिभा दोनों की आवश्यकता है। आनन्दवर्धन ने भगवान की स्तुति के प्रसंग में इन दोनों के वैशिष्ट्य का सुन्दर उद्घाटन किया है-

या व्यापारवती रसान् रसयितुं काचित् कवीनां नवा।
दृष्टिर्या परिनिष्ठितार्थविषयोन्मेषा च वैपश्चिती।।
ते द्वे चाप्यवलम्ब्य विश्वमनिशं निर्वर्णयन्तो वयं।
श्रान्ता नैव च लब्धमब्धिशयन! त्वदभक्तितुल्यं सुखम्।।[6]

इस कमनीय पद्य का भावार्थ है- कवियों की कोई नवीन दृष्टि रहती है जो रसों के आस्वादन में संलग्न रहती है। विपश्चितो की भी दृष्टि होती है जो परिनिष्ठित (व्यवस्थित) अर्थ के विषयों के उन्मीलन में लगी रहती है। इन दोनों

6. ध्वन्यालोक पृष्ठ 227

दृष्टियों का अवलम्बन कर हम लोग विश्व का निरन्तर वर्णन करते हुए थक गए हैं। परन्तु हे समुद्रशायी नारायण! आपकी भक्ति के समान सुख हमने कहीं भी नहीं पाया।

यहाँ हमारे भक्त कवि के विचार से कविदृष्टि तथा विद्वतदृष्टि से विचार्य माण सुख भक्ति के सामने नितान्त निर्जीव, निर्वीर्य तथा नीरस बनकर पड़ा हुआ है।

ध्यान देने की बात है कि आनन्दवर्धन **कविदृष्टि (प्रतिभा)** को तथा **वैपश्चिती दृष्टि (प्रज्ञा)** को जीवन की व्याख्या करने में समान अधिकार प्रदान कर रहे है। प्रज्ञा का जितना अधिकार तथा सामर्थ्य जीवन के रहस्यों के उन्मीलन में होता है, उतना ही अधिकार तथा सामर्थ्य प्रतिभा को भी होता है। उनका प्रतिभा के लिये **'दृष्टि'** शब्द का प्रयोग अपना गम्भीर महत्व रखता है। संसार के पदार्थों का सम्यक निरूपण (निर्वर्णन) एक ही दृष्टि से नहीं हो सकता, दोनों दृष्टियों के सम्मिलन से ही विश्व के तात्विक रूप का उन्मीलन होता है, एक ही दृष्टि से नहीं- **'नहि एकया दृष्टया सम्यङ् निर्वर्णनं निर्वहति।**[7]

इस दृष्टि में आलोचक शिरोमणि आनन्दवर्धन का यह विवेचन बड़ा ही सारगर्भित तथा मर्मस्पर्शी है। कवि की दृष्टि तथा विपश्चित् की दृष्टि एक दूसरे की विरोधिका न होकर परस्पर सहायिका है। दोनों एक दूसरे की कमी को पूरा करती हैं। कवि दृष्टि (प्रतिभा) विचित्र उपादानों से नवीन जगत् की सृष्टि करती है तो विद्वतदृष्टि (प्रज्ञा) परिनिष्पन्न रूप वाले पदार्थों का उन्मीलन करती है। **प्रतिभा अपूर्व वस्तु को उन्मीलन करती है, तो प्रज्ञा लोकप्रसिद्ध अर्थ का उन्मेष करती है। इसलिए विश्व के रहस्यों के निर्धारण के लिये प्रज्ञा तथा प्रतिभा दोनों ही आवश्यक है। इन दोनों में अन्तर यह हैं कि प्रज्ञा स्थितिशील (Static) पदार्थों के निरूपण का साधन है तथा प्रतिभा प्रगतिशील (Dynamic) वस्तुओं के उन्मीलन का उपाय है।**

---

7. ध्वन्यालोक लोचन

दृष्टिरूपा प्रतिभा की आनन्दवर्धन यह व्याख्या पाश्चात्य आलोचकों द्वारा भी की गई है। क्रोञ्चे तथा हरफोर्ड प्रातिम ज्ञान की विशिष्टता के प्रयत्न समर्थकों में हैं।

क्रोञ्चे के अनुसार -

Intuitive knowledge has no need of a master, not to lean upon any one, She does not need to borrow the eyes of others, for she has most excellent eyes of her own.[8]

हरफोर्ड के अनुसार-

What distinguishes poetic from religious or philosophicl apprehension is not that it turns away from reality, but that it lies open to and eager watch for reality, at doors and windows which with them are barred and behind. the poet's soul resides, so to speak, in his sences in his emotion, in his imagination, as well as in his conseios intelligence, and we may provisionally desonibe poetic apprehension as an intense state of conseliovsness in which all these one vitally concerned.[9]

ख. सृष्टि पक्ष-

प्रतिभा के द्विविध पक्षों में प्रथम का वर्णन अब तक किया गया है। अब प्रतिभा के द्वितीय पक्ष की विवेचना इस प्रकार प्रस्तुत की जाती है।

प्रतिभा सृष्टि का साधन है। इसी कारण प्रजापति के साथ कवि की तुलना की जाती है, यद्यपि यह तुलना प्रजापति के लिये नितान्त निराशाजनक है। क्योंकि प्रजापति उपादान कारणों की सहायता से ही सृष्टि करने में सफल होते है, परन्तु कवि बिना कारण कलाप के ही काव्य की रचना करता है- '**अपूर्वं यद् वस्तु प्रथयति बिना कारणकलाम्।**'[10]

कविनिर्मित की विलक्षणता आचार्य मम्मट को काव्य प्रकाश में विश्रुत शब्दों में दिखलाई है-

---

8. Croce : aesthetics 2-3
9. C.N. Hereford : is there a poetic view of the world.
10. ध्वन्यालोक लोचन का मंगल श्लोक

नियतिकृतनियमरहिताम् ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति॥[11]

कहने का आशय यह है कि प्रजापति की सृष्टि नियति के द्वारा निर्धारित नियमों का पालन करती है किन्तु कवि की सृष्टि ऐसे नियमों की संकीर्णता में कभी जकड़ी नहीं रहती, प्रत्युत वह बन्धन मुक्त की भाँति स्वतन्त्र होती है। क्योंकि प्रजापति की सृष्टि त्रिगुणमयी होने से सुखमयी, दुखमयी तथा मोहमयी होती है; परमाणु आदि उपादान तथा अदृष्ट, ईश्वर आदि निमित्त कारणों के ऊपर आश्रित होने से परतन्त्र होती है; मधुर, अम्ल आदि छः रसों से ही युक्त रहती है तथा मनोज नहीं होती, कभी वह घृणा तथा कभी ग्लानि उत्पन्न करती है। हर्ष-विषाद, शोक-मोह, सुख-दुख के नाना द्वन्द्वात्मक भावों की क्रीड़ा किया करने वाली प्रजापति की सृष्टि है। परन्तु कवि सृष्टि इससे नितान्त विलक्षण होती है। वह नियतिकृत नियमों से रहित होती है। केवल एकमात्र ह्लादमयी होती है; नव रसों से युक्त होती है और सर्वदा रुचिर, मनोज तथा हृदयानुरञ्जक होती है। अतः विद्वानों की दृष्टि में प्रतिभा विलक्षण सृष्टि की अवश्यमेव साधिका है।

अब प्रश्न यह उठता हैं कि प्रतिभा किन मौलिक उपादानों को ग्रहण कर नवीन रचना में प्रवृत्त होती है? असत् पदार्थ से अथवा सत् पदार्थ से वह सत् पदार्थ का सर्जन करती है? असत् से सत् की सृष्टि मानना कथमपि तर्कसंगत नहीं है। क्या आधुनिक मनोविज्ञान नहीं बतलाता कि प्रतिभा उन्हीं इन्द्रियजन्य अनुभूतियों के आधार पर नई सृष्टि करती है जिनका सम्बन्ध बाहरी जगत् से होता है और जिनका आनयन हमारी इन्द्रियाँ करती है। हमारे शास्त्रकार भी इस तथ्य से अपरिचित न थे क्योंकि आनन्दवर्धन ने कहाँ है कि-

अपारे काव्यसंसारे कविरेक प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥
भावानचेतनानपि चेतनवत्, चेतनानचेतनवत्।
व्यवहारयति यथेष्टं सुकविः काव्ये स्वतन्त्रतया॥[12]

11. काव्यप्रकाश प्रथम उल्लास श्लोक संख्या 1
12. ध्वन्यालोक पृष्ठ 222

इस प्रकार उनका यह अभिप्राय नहीं है कि कवि शून्य से ही चित्रों का निर्माण करना है, प्रत्युत विद्यमान पदार्थों से ही अपनी सामग्री एकत्र कर वह नवीन वस्तुओं की रचना में समर्थ होता है।

कुन्तक का समग्र **'वक्रोक्तिजीवित'** ग्रन्थ प्रतिभा की अतिगूढ़ व्याख्या करता है। उनका कहना है कि– **'कविप्रतिभा प्रौढ़िरेव प्राधान्येनावतिष्ठते।'**[13] अर्थात् काव्य में कवि–प्रतिभा का ही चरम उत्कर्ष रहता है तथा कविता में जो कुछ भी चमत्कार होता है वह सब प्रतिभा के द्वारा ही उत्पन्न होता है–**यत् किञ्चनापि वैचित्र्यं तत् सर्वं प्रतिभोद्भवमेव'**[14] तथा काव्य के समग्र साधनों विशेषतः अलंकारों का प्राण प्रतिभा है। कविता में रस, भाव तथा अलंकार– समस्त काव्य शोभाधायक अंगो का कविकौशल ही जीवन है, किन्तु अलंकारों का तो प्रधानरूप से यह जीवन है, क्योंकि कविकौशल के अनुग्रह के बिना अलंकारगत अल्पमात्र भी वैचित्र्य की कल्पना हम काव्य में नहीं कर सकते– **"यद्यपि रसभावालङ्काराणां सर्वेषां कविकौशलमेव जीवितं तथापि अलंकारस्य विशेषतः तदनुग्रहं बिना न मनागपि वैचित्र्यमुत्प्रेक्षामहे।।"**[15] इस प्रकार कहा जा सकता कि कवि कौशल कवि प्रतिभा व्यापार का ही दूसरा नाम है। उनकी दृष्टि में काव्य को **'अम्लान् प्रतिभोद्भिन्न–नवशब्दार्थबन्धुर'** होना चाहिए। अकुण्ठित प्रतिभा से उन्मीलित नूतन शब्द तथा नवीन अर्थ के साहचर्य से ही काव्य रमणीय होता है। कुन्तक की दृष्टि में प्राचीन तथा इस जन्म में उत्पन्न संस्कारों के परिपक्व होने पर उदय लेने वाली प्रौढ़ प्रतिभा अनिवर्चनीय कविशक्ति है– **प्राक्तनाद्यतनसंस्कार–परिपाकप्रौढ़ा प्रतिभा काचिदेव कविशक्तिः।**[16]

---

13. वक्रोक्तिजीवितम् पृष्ठ 13
14. वही पृष्ठ 48
15. वही पृष्ठ 146
16. वही 49

1.2 प्रतिभा का स्वरूप

अब प्रश्न उठता हैं कि प्रतिभा का स्वरूप क्या है? प्रतिभा अपूर्व निर्माण की शक्ति है जिसमें सन्तत नवीन, चिरनूतन विचारों तथा मूर्तियों के गढ़ने की क्षमता है। आचार्य भट्टतोत का यह विश्रुत लक्षण प्रतिभा के इस निर्माण-कौशल का परिचायक है-

प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।
तदनुप्राणनाजीवद्वर्णनानिपुणः कविः॥
तस्य कर्म स्मृतं काव्यम्............।[17]

अर्थात् नये-नये अर्थ के उन्मीलन में समर्थ होने वाली प्रज्ञा ही प्रतिभा कही जाती है। अभिनवगुप्त का लक्षण इसी के अनुरूप है-

'प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा।
तस्याः विशेषोरसावेशवैशद्यसौन्दर्यकाव्यनिर्माण क्षमत्वम्।'[18]

इस प्रकार प्रतिभा वह स्रोत है जहाँ प्रत्येक रचनात्मक वस्तु का उद्गम होता है। कवि-प्रतिभा उस सामान्य प्रतिभा का एक विशिष्ट प्रकार है जब कवि रसावेश की विशदता तथा सुन्दरता के कारण काव्य के निर्माण में समर्थ होता है।

प्रतिभा का ही दूसरा अभिधान **शक्ति है**। इसकी रुद्रट कृत व्याख्या सहज तथा सुबोध है-

मनसि सदा सुसमाधिनी विस्फुरणमनेकधाऽभिधेयस्य।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः॥[19]

अर्थात् चित्त के समाहित होने पर अभिधेय अर्थ अनेक प्रकार से स्फुरित होता है तथा कमनीय पदों के द्वारा वह अभिव्यक्त होता है। जिसकी सत्ता होने पर यह दशा स्वतः उपस्थित होती है उसी का नाम शक्ति या प्रतिभा है।

महाकवि राजशेखर मानो इसी की व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि-**या शब्द ग्रामम्, अर्थसार्थम्, अलंकारतन्त्रम्, उक्तिमार्गम् अन्यदपि**

---

17. हेमचन्द्र काव्यानुशासन पृष्ठ 3 पर उद्धृत लुप्तप्राय 'काव्यकौतुक' ग्रन्थ में निर्दिष्ट लक्षण
18. लोचन पृष्ठ 29
19. काव्यालंकार 1/15

तथाविधमधिहृदयं प्रतिभासयति सा प्रतिभा। अप्रतिभस्य पदार्थसार्थः परोक्ष एव। प्रतिभावतः पुनः अपश्यतोऽपि प्रत्यक्ष एव।[20] कहने का अर्थ यह है कि प्रतिभा वह वस्तु है जो काव्य के समग्र उपकरणों शब्दसमूह, अर्थपुञ्ज, अलंकार, उक्ति प्रकार आदि को कवि के हृदय में प्रतिभासित करती है जिससे ये सब पदार्थ उसके मानसनेत्र के सामने झटिति अभिव्यक्त हो जाते हैं। तथा इसके साथ ही साथ प्रतिभा से दरिद्र व्यक्ति के सामने पदार्थपुञ्ज परोक्ष रहता है और प्रतिभा सम्पन्न के सामने न देखने पर भी सब कुछ प्रत्यक्ष ही रहता है। इसी के सहारे ही कवि उस अदृश्य तथा परोक्ष जगत् के पदार्थों की व्याख्या करने में समर्थ होता है जिसे भगवान् सविता का प्रकाश भी अपनी अलौकिक शक्ति से आलोकित नहीं कर सकता। क्योंकि **'जहाँ न जाय रवि, तहाँ जाय कवि'** इस लोकोक्ति की गम्भीर सत्यता इसी गूढ़तम सिद्धान्त पर आश्रित है।

प्रतिभा का स्वरूप निदर्शन करते हुए पण्डितराज जगन्नाथ ने कहा है- **तस्य च कारणं कविगता केवला प्रतिभा। सा च काव्यघटनानुकूल-शब्दार्थोपस्थितिः। तदगतं त प्रतिभात्वं काव्यकारणतावच्छेदकतया सिद्धो जातिविशेष उपाधिरूपं वा खण्डम्।।**[21]

कहने का आशय यह हैं कि उस काव्य का एकमात्र कारण कवि में रहने वाली प्रतिभा ही है। वह काव्य की रचना के अनुकूल शब्द और अर्थ की उपस्थिति रूप है। इस प्रतिभा में रहने वाला प्रतिभात्व नित्य जाति है, अथवा उसे सखण्ड उपाधि भी कहा जा सकता है।

उपर्युक्त इस नैयायिक शब्दावली के द्वारा पण्डितराज जगन्नाथ ने यह स्पष्ट करते हुए कहा हैं कि प्रतिभात्व को धर्म नहीं माना जा सकता, क्योंकि धर्म के रूप में वह अनित्य ही रहेगा। अतः उसे नित्य जाति ही मानना चाहिये। साथ ही प्रतिभात्व को घटते रहने वाले नीलत्व आदि के समान सखण्ड उपाधि भी कह सकते हैं, क्योंकि जिस प्रकार घटत्व जाति सभी घड़ों में समान रूप से रहती है, किन्तु नीलत्व, पीतत्व आदि उपाधियाँ बदलती रह सकती हैं, उसी प्रकार प्रतिभात्व की नित्य जाति से विशिष्ट होकर भी प्रतिभा अनेक रूपों में उल्लिखित होती है।

20. काव्यमीमांसा पृष्ठ 11-12

21. रसगंगाधर पृष्ठ 25-30

पण्डितराज के अनुसार इस प्रतिभा के दो कारण हैं– 1. देवता या महापुरुष आदि की कृपा से होने वाला अदृष्ट या भाग्य 2. विलक्षण व्युत्पत्ति तथा अभ्यास। इन तीनों को सम्मिलित रूप से प्रतिभा का कारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि व्युत्पत्ति और अभ्यास के सर्वथा अभाव में भी काव्य रचना होती देखी गयी है। अतः अदृष्ट को स्वतंत्र रूप से प्रतिभा का एक हेतु मानना आवश्यक है। साथ ही, यह भी नहीं कहा जा सकता कि केवल अदृष्ट ही प्रतिभा को उत्पन्न करने वाला एकमात्र हेतु हैं, क्योंकि जो व्यक्ति प्रारम्भ में काव्य की रचना नहीं कर सकता, उसमें व्युत्पत्ति और अभ्यास के द्वारा भी प्रतिभा का आविर्भाव हो सकता है। प्रतिभा की इस द्विविध कारणता को पण्डितराज ने और भी अनेक तर्कों द्वारा सिद्ध किया है।[22]

काव्यप्रतिभा की उपर्युक्त सभी विशेषताओं का समाकलन आचार्य महिमभट्ट ने इस प्रकार किया है–

विशिष्टमस्य यदरूपं तत्प्रत्यक्षस्य गोचरः।
स एव सत्कविगिरां गोचरः प्रतिभाभुवाम्॥
रसानुगुणशब्दाथचिन्तास्तिमितचेतसः।
क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः
सा हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते।
येन साक्षात्करोत्येष भावांस्त्रैलोक्यवर्तिनः॥[23]

अर्थात् वस्तु का जो विशिष्ट रूप है, उसको प्रतिभा के समान दिखा देती है। जब कवि का चित्त रस के अनुकूल शब्द और अर्थ की चिन्ता में निश्छल हो जाता है, तो उस क्षण उसके भीतर उत्पन्न होने वाली प्रज्ञा ही प्रतिभा है। प्रायः आचार्यों ने प्रज्ञा के माध्यम से ही प्रतिभा का परिचय कराया है। यह प्रतिभा शंकर के तृतीय नेत्र के समान होती है, जिसके द्वारा कवि तीनों लोकों के पदार्थों का साक्षात्कार करता है।

कहने का आशय यह है कि वस्तु का जो विशिष्ट रूप है वह प्रत्यक्ष का विषय है तथा उसी का निरुपण उत्तम कवियों की प्रतिभा से प्रसूत वाणी के द्वारा होता है।

---

22. रसगंगाधर पृष्ठ 30–32

23. व्यक्तिविवेक द्वितीय विमर्श 116, 117, 118

उत्तम कवि अपनी जन्मजात प्रतिभा से वस्तु के जिस स्वरूप का निरूपण अपनी कविता में करते है वह उसका विशिष्ट स्वरूप होता है। इसके साथ ही कवि जब किसी विशेष रस की निष्पत्ति के लिये उसके अनुरूप शब्द और अर्थ का चिन्तन में मग्न हो जाता है तो बाह्य विषयों से विरत हो जाने के कारण उसका मन एक क्षण के लिये स्तिमित अर्थात् रुक जाता है और उस समय वस्तु के उस विशिष्ट स्वरूप के साक्षात्कार से एक विशेष प्रकार की प्रज्ञा उत्पन्न हो जाती है। वह प्रज्ञा ही कवि की प्रतिभा है। यह कवि की प्रतिभा भगवान् शिव के तृतीय नेत्र के समान है जिससे कवि शिव के ही समान तीनों-लोकों में कहीं भी स्थित किसी भी भाव का साक्षात्कार कर लेता है।

1.3 प्रतिभा का बीज-

हमारे मान्य आलोचकों विशेषतः भट्टतौत, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, राजशेखर, कुन्तक तथा महिमभट्ट ने काव्य के इस प्रधान बीज 'प्रतिभा' की अन्तरंग परीक्षा बड़ी मार्मिकता के साथ की है। इतनी महत्त्वशालिनी प्रतिभा का बीज मानव-हृदय में किस प्रकार या किस कारण से उगता है? इस प्रश्न का समाधान हमारे आलोचकों ने मनोवैज्ञानिक रीति से किया है। अधिकांश शास्त्रकार इसे प्राक्तन जन्म में उत्पन्न संस्कार-विशेष मानते हैं। दण्डी प्रतिभान (प्रतिभा) को पूर्ववासना के गुणों से सम्बद्ध बतलाते हैं- "**पूर्ववासना गुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम्।**"[24] वामन भी जन्मातर संस्कार मानते है-**जमान्तरसंस्कारविशेषः कश्चित्।**[25] जिसकी पुष्टि अभिनवगुप्त भी अभिनवभारती में स्पष्ट रूप से करते है- **'अनादिप्राक्तन-संस्कारप्रतिभानमयः'।**[26]

---

24. काव्यादर्श 1/104
25. काव्यालंकार सारसंग्रह पृष्ठ 48
26. अभिनवभारती खण्ड 1 पृष्ठ 346

पण्डितराज जगन्नाथ प्रतिभा के उदय के लिये दो अन्य कारण बतलाते है-**तस्याश्च (प्रतिभायाः) हेतुः क्वचिद् देवतामहापुरुषप्रसादादिजन्यम् अदृष्टम्। क्वचिच्च विलक्षणव्युत्पत्ति काव्यकरणाभ्यासौ। न तु त्रयमेव। नापि केवलमदृष्टमेव कारणमित्यपि शक्यं वक्तुम्। कियन्तंचित् कालं काव्यं कर्तुमशक्नुवतः कथमपि संजातयोर्व्यत्पत्यभ्यासयोः प्रतिभायाः प्रादुर्भावस्य दर्शनात्।**[27] अर्थात् प्रथम किसी देवता के प्रसाद या साधु के अनुग्रह से अदृष्ट का उदय। द्वितीय व्युत्पत्ति तथा अभ्यास का परिपाक। जिसके कारण अत्यधिक उम्र बीत जाने पर भी अनेक व्यक्तियों मे अकस्मात् कवित्व का उदय हो जाता है तथा उनके मुख से काव्य की धारा वर्षाकालीन नदी के प्रवाह के समान अज्रस बहने लगती है।[28] आचार्य हेमचन्द्र प्रतिभा के दो भेद मानते है- जन्मजात (सहजा) तथा कारणजन्य (औपाधिकी)। जिनमें अन्तिम का उदय मन्त्र-तन्त्र तथा देवता के प्रसाद से होता है। क्योंकि आत्मा सूर्य के समान स्वयं प्रकाश है, परन्तु ज्ञानावरण कर्मों के सम्पादन के कारण मेघपटल के समान आत्मा के विशुद्ध रूप पर अज्ञान का आवरण पड़ा रहता है। जब इन कर्मों का नाश हो जाता है (क्षय) अथवा इनका उपशम हो जाता है, तब यह प्रतिभा स्वतः सम्पन्न होती है जिसे औपाधिकी प्रतिभा कहते है। हेमचन्द्र का जैन मताभिमत यह सिद्धान्त आधुनिक मनोविज्ञान के साथ पूर्ण सामञ्जस्य रखता है।

मनोवैज्ञानिकों का कहना हैं कि प्रतिभा का सम्बन्ध अचेतन मन से है। इन्द्रिय जन्य ज्ञान की अनुभूति प्रत्येक व्यक्ति करता है। साधारण जन इन अनुभूतियों के विश्लेषण तथा संयोजन करने में सर्वथा अक्षम होते हैं। फलतः बाह्य जगत का ज्ञान उनके हृदय में मूर्तरूप धारण नहीं करता। उनके हृदय में विपुल अनुभूतियाँ दबी रह जाती हैं और अचेतन मन में विलीन प्राय-सी बनी रहती हैं, परन्तु प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति के हृदय में ये दबी प्रवृत्तियाँ शनैः शनैः उन्मुक्तावस्था को प्राप्त करती हैं तथा वे चेतना के स्तर पर आकर अपने आपको

27. रसगंगाधर पृष्ठ 8
28. काव्यानुशासन पृष्ठ 5-6

स्वतः उद्बुद्ध करती हैं। यही कारण है कि कभी–कभी काव्यकला से पराङ्मुख व्यक्ति के हृदय में प्रतिभा जाग उठती है और वह कमनीय कविता से ही अपने श्रोताओं को आश्चर्य चकित कर देता है। अन्तर केवल शब्दों का है। मनोवैज्ञानिक जिसे **'अवरोध'**[29] के नाम से पुकारते हैं उसे हेमचन्द्र आवरण की संज्ञा देते

इस प्रकार कवि के लिये सर्वातिशायी महत्त्वपूर्ण साधन प्रतिभा है। (Imagination) कवि तथा आलोचक दोनों के दृष्टिकोण इस बात पर सहमत होते हैं कि प्रतिभा के द्वारा ही कवि काव्यस्रष्टा बनता है और प्रजापति की समता करता है। आचार्य आनन्दवर्धन व्युत्पत्ति तथा अभ्यास दोनों साधनों से बढ़कर प्रतिभा की उपयोगिता काव्य में स्वीकार करते है। इस विषय में उनकी विस्पष्ट उक्ति है कि–

"सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निस्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्।।"[30]

अर्थात् महाकवियों की वाणी मधुर अर्थ का निस्यन्द करती हुई अलोक–सामान्य तथा परिस्फुरणशील प्रतिभाविशेष की अभिव्यक्ति करती है–

1.4 प्रतिभा का कार्य–

प्रतिभा किस आधार पर निर्माण करती है?इसके उत्तर में कुन्तक का कथन मार्मिक तथा सूक्ष्म कथन इस प्रकार है–**'यच्च वर्ण्यमानस्वरूपाः पदार्थाः कविभिरभूताः सन्तः क्रियन्ते। केवलं सत्तामात्रेण परिस्फुरतां चैषां तथाविधः कोऽप्यतिशयः पुनराधीयते, येन काममपि सहृदयहृदयहारिणीं रमणीयतामध्यारोप्यते।।'**[31] अर्थात् काव्य में जिन पदार्थों के स्वरूप का वर्णन कवि करता है, वे असद्रूप नहीं होते है। जगत् में वे केवल सत्तामात्र से परिस्फुरित होते हैं। कवि अपनी प्रतिभा के सहारे उनमें अनिवर्चनीय अतिशय उत्पन्न कर देता है, जिसके कारण काव्य में सहृदयहृदयहारिणी रमणीयता का उदय हो जाता है। इस शक्ति से कवि पदार्थों के मूलरूप को ढक देने में समर्थ

29. काव्यानुशासन पृष्ठ 5–6
30. Inhibition
31. तापसवत्सराज पृष्ठ 24

होता है और इसके साथ ही साथ उनका इतना चमत्कारिक चित्र प्रस्तुत करता है कि वे सर्वथा नवीन कृति के रूप में प्रतीत होने लगते हैं यह बात केवल उत्पाद्य वस्तु के ऊपर ही चरितार्थ नहीं होती; प्रत्युत प्रसिद्ध वस्तु के विषय में भी होती है। इस प्रकार कहा जा सकता हैं कि **कवि प्रतिभा के स्वरूप का निर्माण नहीं करता, बल्कि प्रतिभा शक्ति के बल पर वह केवल अतिशय का निर्माण कर देता है।** इस प्रकार अतिशय-विधान ही प्रतिभा का केवल कार्य है-

"प्रस्तुतातिशयविधानमन्तरेण न किञ्चदपूर्वमत्रास्ति।
एव पदविन्यासास्त एवार्थविभूतयः।
तथापि नव्यं भवति काव्यं ग्रथन कौशलात्।"[32]

अर्थात् पदों के विन्यास वे ही होते हैं। अर्थ की विभूतियाँ वे ही हैं। तथापि ग्रथन की कुशलता से ही काव्य नवीन होता है। प्रतिभा व्यापार की समग्र कुशलता है। जिसके कारण परिचित तथा पूर्वज्ञात वस्तु भी नवीन तथा अपूर्वरूप में उद्भासित होती है। प्रतिभा का यह रहस्य आनन्दवर्धन ने अपनी प्राकृत-गाथा में बड़ी सुन्दरता से अभिव्यक्त किया है-

ण अ ताण घडइ ओही न अ ते दीसन्ति कह वि पुनरुत्ता।
जे विन्ममा पिआणं अत्था वा सुकईवाणीनं॥[33]
न च तेषां घटतेऽवधिः, न च ते दृश्यन्ते पुनरुक्ताः।
ये विभ्रमाः प्रियाणामर्था वा सुकविवाणीनाम्॥[34]

अर्थात् प्रियतमा के विलास तथा सुकवि-वाणी के अर्थ एक समान होते हैं, न तो उनकी अवधि ही मिलती है और न वे पुनरूक्त ही दिखलाई पड़ते हैं। वे सर्वदा नवीन प्रतीत होते हैं और उनका अन्त ही नहीं मिलता। यही प्रतिभा का विलास है।

---

32. वक्रोक्तिजीवितम् पृष्ठ 140
33. वही पृष्ठ 143
34. वही पृष्ठ 148

(क) कवि : द्रष्टा एवं स्रष्टा

पाश्चात्यतत्त्वज्ञ क्रोञ्चे का तो स्पष्ट मन्तव्य है कि प्रातिभ ज्ञान की यर्थाथता का परिचय ही तब तक नही मिलता जब तक अभिव्यंजना Exrassion (मानसिक ही सही) के रूप में परिणत नहीं होता–Intuition is only intuition in so for as it is, in that very act, expression. an image that does not express , that is not speach, song, drawing , painting, sculpture or architecture-speech at least murmurmed to one self, song at least echoing within one's own breast, line and colour seen in imagination and colouring with its own tint the while soul and organism-is an image that does not exist.[35]

इतनी दूर न जाकर भी हमारे आलोचकों का कथन है कि कवि के लिए दर्शन और वर्णन की नितान्त आवश्यकता है। द्रष्टा होने पर भी बिना शब्द स्रष्टा हुए कोई भी व्यक्ति 'कवि' शब्द का भाजन नहीं बन सकता। अभिनवगुप्त के गुरु भट्टतोत की यह पूर्वनिर्दिष्ट विवेचन जितनी मार्मिक है उतनी ही विस्पष्ट है–

स तत्वदर्शनादेव शास्त्रेषु पठितः कविः।
दर्शनाद् वर्णनाच्चाथ रूढा लोके कविश्रुतिः॥
तथा हि दर्शने स्वच्छे नित्येऽप्यादिकवेर्मुनेः।
नोदिता कविता लोके यावज्जाता न वर्णना॥[36]

कवि ऋषि होता है। शास्त्र में तत्त्व के दर्शनमात्र से कोई भी व्यक्ति 'कवि' कहलाता है, परन्तु लोक में कविपदवी दर्शन तथा वर्णन–दोनों के ही ऊपर अवलम्बित होती है। वाल्मीकि तत्त्वद्रष्टा ऋषि थे। उनका स्वच्छदर्शन नित्य था, परन्तु लोक में वे 'कवि' नाम से तब तक विश्रुत नहीं हो सके, जब तक उनका दर्शन अभिधान के रूप में अपने को परिणत न कर सका।

भट्टतौत का कहना है– **दर्शनात् वर्णनाच्च** अर्थात् प्रथमतः दर्शन होता है, तदनन्तर वर्णन होता है । उनके सुप्रसिद्ध शिष्य अभिनवगुप्ताचार्य का भी गुरु के अनुरूप ही मत है–

35. Croce-Aesthetics
36 काव्यमीमांसा पृष्ठ 19

क्रमात् प्रख्योपाख्य प्रसर-सुभगं भासयति यत्।
सरस्वत्यास्तत्वं कविसहृदयाख्यं विजयतात्।[37]

इस प्रकार सारस्वत तत्त्व प्रख्या और उपाख्या को क्रमशः उन्मीलित करता है- **'प्रथमेति प्रख्या तदनन्तरम् उपाख्येति क्रमः।'**[38] प्रख्या का अर्थ है प्रतिभा तथा **उपाख्या** का तात्पर्य है कथन या अभिधान शब्दों का प्रयोग। उपाख्या प्रख्या की अनुवर्तिनी दासी है। आचार्य कुन्तक की भी यही सम्मति है-**कविचेतसि प्रथमं च प्रतिभाप्रतिभासमानम् अघटितपाषाणशकलकल्पमणिप्रख्यमेव वस्तु विदग्धकवि-विरचित वक्रवाक्योपारूढं शाणोल्लीढमणिमनोहरतया, तद्विदाह्लादकारी काव्यत्वमधिरोहति।।**[39] अर्थात् कवि के चित्त में प्रतिभा से प्रतिभासित वस्तु रुचिकर या मनोज नहीं होती। अधिक से अधिक वह मणि के सदृश होती है जिसके पत्थर के टुकड़े खान से तुरन्त निकलने के कारण अनगढ़ और बेड़ौल होते हैं। इस प्रकार कवि के वक्रवाक्य के रूप में अभिव्यक्त होने पर वही वस्तु शान पर चढ़ाये गए मणि के समान चमत्कारी तथा समुज्जवल हो जाती है। कुन्तक का आशय है कि प्रतिभा वक्रोक्ति के रूप में परिणत होने पर यथार्थ सिद्ध होती है।

कभी-कभी वक्रोक्ति प्रतिभा के भीतर निहित चमत्कार में जीवन डाल देती है। उपाख्या अख्या को सजीव रूप से चमका देती है; मृतप्राय शब्दों में विजली दौड़ा देती है। कुन्तक ने अनंगहर्ष-मात्रराज के 'तापस वत्सराज' नामक विख्यात नाटक से इस प्रसंग में निम्नलिखित पद्य उद्धृत किया है-

तद्वक्त्रेविलोकनेन दिवसो नीतः प्रदोषस्तथा
तद्गोष्ठयैव निशापि मन्मथकृतोत्साहैस्तदङ्गापणैः।
तां सम्प्रत्यपि मार्गदत्तनयनां द्रष्टुं प्रवृत्तस्य मे
वद्धोत्कण्ठमिदं मनः किमथवा प्रेमाऽसमाप्तोत्सवः।।[40]

---

37. काव्यानुशासन पृष्ठ 379
38. अभिनव भारती पृष्ठ 70
39. ध्वन्यालोक लोचन की टीका कौमुदी पृष्ठ 7
40. वक्रोक्तिजीवितम् पृष्ठ 9

उदयन वासवदत्ता से मिलने के लिये जा रहा है। रास्ते में सोच रहा है कि हमारी इस विपुल उत्कण्ठा का कारण ही क्या हो सकता है? उस प्रियतमा के चन्द्रवदन के दर्शन से मैंने दिन बिता दिया है। उसकी सरस गोष्ठी के द्वारा प्रदोष को भी मैंने व्यतीत कर दिया है। रात भी सूखी या सूनी नहीं बीती। मन को मन्थन करने वाले कामदेव के द्वारा उत्साहित किये गये उसके अंगो के आलिंगनों से निशा को भी मैने आनन्द से ही बिताया है। रात-दिन उसी प्रियतमा की ही सरस चर्चा है। कभी चन्द्रमुख का दर्शन है, कभी सरस गोष्ठी का प्रसंग है, कभी आलिंगन की मधुरिमा है। एक क्षण भी उसके बिना मेरा नहीं बीतता। तब क्या कारण है कि हमारे राह की ओर टकटकी बाँधने वाली उसे देखने के लिए आज भी जब मैं आगे डग भर रहा हूँ, तब मेरा मन उत्तेजित हो रहा है?कवि की इस प्रश्न का मधुर समाधान दे रहा है- " **अथवा प्रेमासमाप्तोत्सवः** " अथवा प्रेम का उत्सव कभी नहीं होता; प्रेमी-प्रेमिका का प्रेम आनन्द की एक दीर्घ परम्परा है जो उपभोग किए जाने पर भी कभी समाप्ति का नाम नहीं जानती। उदयन के चरित से परिचित पाठक कवि की इस सरस उक्ति का अभिनन्दन अक्षरसः करेंगे। इस वाक्य ने पूर्व वाक्यों में जान डाल दी है। मृतकल्प वाक्यों का इतना मधुर स्वारस्य जागृत हो उठा है कि यह पूरा पद्य ही वक्र अभिधान का एक नितान्त उत्कृष्ट उदाहरण हो गया है। सचमुच वर्णन से दर्शन उज्जवल हो उठता है, उपाख्या से प्रख्या चमक उठती है।

(ख) काव्य और प्रतिभा

वाग्देवी की अभिव्यक्ति के दो मार्ग हैं-शास्त्र तथा काव्य। इनमें से शास्त्र प्रज्ञा के ऊपर आश्रित रहता है और काव्य प्रतिभा से उत्पन्न होता है। समस्त वाङ्मय के दो ही प्रकार हैं- शास्त्र और काव्य, जिनमें शास्त्र प्रज्ञा का वैभव है तो काव्य प्रतिभा का विलास है-

वर्त्मनी गिरां देव्याः शास्त्रं च कविकर्म च।
प्रज्ञोपज्ञं तयोराद्यं प्रतिभोद्भवमन्तिमम्॥

कमनीय काव्य की प्रसूति प्रतिभा का परिणत फल मानी जाती है। प्रतिभा ही कवि की अलोकसामान्य अभिव्यक्ति का मुख्य हेतु है। प्रतिभा के पंख पर

आरूढ़ होकर कवि ऐसे लोकों की लम्बी उड़ान लेता है जहाँ साधारण जन की बुद्धि प्रवेश भी नहीं कर पाती हैं। प्रतिभा आर्षचक्षु है। प्रतिभा के द्वारा आन्तर आर्षचक्षु का उन्मीलन होता है जिससे साधारणजन के लिये अगम्य स्थानों में कवि पहुँच जाता है और अदृश्य वस्तुओं का **'सद्यः'** साक्षात्कार करता है। कवि और आलोचक दोनों के नैसर्गिक विकास के निमित्त प्रतिभा जागरूक रहती है। कवि के लिये कारयित्री प्रतिभा आवश्यक होती है और काव्य के मर्मज्ञ के लिये भावयित्री प्रतिभा उपयोगी होती है। कविजनों ने एक स्वर से काव्यनिर्माण में प्रतिभा की उपयोगिता मानी है। भवभूति के कथनानुसार ब्रह्म ने स्वयं उपस्थित होकर महर्षि वाल्मीकि की **'अव्याहतं ते आर्षचक्षुः'** के द्वारा प्रशस्त श्लाघा की थी। आर्षचक्षु का उन्मेष प्रतिभा के विलास की ही सूचना है। कविवर शैली के कथनानुसार कवि प्रतिभा के कारण ही निरवच्छिन्न रूप से पद्य की धारा बहाने में समर्थ होता है-

'Like a poet hidden, in the light of thought,
singing hymns unbidden, till the world is wrought.

To sympathy with hopes and fears it heeded not 'singing hymns unbidden'

बिना किसी आदेश के गीतिका के गाने से अभिप्राय प्रतिभा के स्रोत के उन्मीलन का है।

इस प्रकार वेद, भारतीय दर्शन तथा साहित्यशास्त्र में प्रतिभा की बड़ी ही मार्मिक तथा आध्यात्मिक व्याख्या की गई है। साधारण जन कहते हैं कि जगत् के पदार्थों का तात्त्विक निरूपण हमारी मानव-बुद्धि इन्द्रियों की सहायता से करती है परन्तु दार्शनिकों की दृष्टि में वस्तुतत्व के अपरोक्ष ज्ञान का प्रबल साधन प्रतिभा ही है। प्रतिभा का शाब्दिक अर्थ है झलक, कारण-सामग्री के अभाव में भी भावों का मानस क्षितिज पर स्वतः प्रकाश या आर्विभाव। भारतीय दर्शन की नाना शाखाओं ने अपने दृष्टिकोण से प्रतिभातत्त्व की गम्भीर आलोचना प्रस्तुत की है और इसका प्रभाव अलंकार शास्त्रीय कल्पना पर भी विशेष रूप से पड़ा है।

***

द्वितीय अध्याय

वैदिक साहित्य, इतिहास एवं पुराणों में प्रतिभा

2.1 वैदिक साहित्य में प्रतिभा

भारतीय संस्कृति के प्राणतत्त्व 'वेद' ही हैं, यह आर्यमेधा ने मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है। भारतीय धर्म, दर्शन, अध्यात्म, आचार, विचार, रीति, नीति, कला और विज्ञान वेद से अनुप्राणित है। जीवन और साहित्य की ऐसी कोई विधा नहीं है; जिसका बीज वैदिक वाङ्मय में न मिले। समष्टि रूप में समग्र भारतीय साहित्य, जन-जीवन एवं सभ्यता की आधार भूमि यदि वेदों को ही कहा जाय, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। काव्य-प्रतिभा-सम्बन्धी विचार सूत्र वैदिक-साहित्य में बिखेरे हुए मिलते है, जो परवर्ती युग की प्रतिभा सम्बन्धी अवधारणा का सूत्रपात करते है।

2.1.1 वेदों एवं उपनिषदों में प्रतिभा

प्रतिभा शब्द प्रति उपसर्ग के साथ 'भा' धातु का प्रयोग वैदिक साहित्य में किया जाता है। **'छान्दोग्य उपनिषद्'** में कहा गया है-**न वे मा प्रतिभान्ति भो**।[1] यहाँ पर 'प्रतिभान्ति' का प्रयोग पुरुष के अन्तः करण में ऋचाओं के तुरन्त स्फुरित होने के अर्थ में किया गया है। टीकाकार उपनिषद् ब्रह्मयोगी ने इस स्थल की टीका में प्रतिभान्ति का अर्थ 'स्फुरन्ति' (मन में स्फुरित होते हैं) किया है-**न वै मां ऋगादीनि प्रतिभान्ति, मन्मनसि न स्फुरन्ति इत्यर्थः**।[2]

---

1. **छान्दोग्य उपनिषद् 6/7/2**
2. दशोपनिषद् अड्यार संस्करण दूसरा भाग पृष्ठ 149

इसी प्रकार कठोपनिषद् में भी कहा है-**न साम्परायः प्रातिभाति बालम्।**[3]

उपनिषद्ब्रह्मयोगी ने इसका भी अर्थ 'मूढ व्यक्ति के मन में ब्रह्मज्ञान स्फुरित नहीं होता' यह किया है।[5] आगे चलकर संस्कृत काव्यशास्त्र में 'समाहित चित्त में पदावली का सद्यः स्फुरण तथा अभिधेय का तुरन्त प्रतिभासित हो उठना' यह काव्य प्रतिभा का स्वरूप बताया है-

मनसि सुसमाधिनि स्फुरणमनेकधाभिधेयस्य।
अक्लिष्टानि च पदानि विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः॥[5]

काव्यशास्त्र की इस धारणा का मूल हम वैदिक साहित्य को मान सकते है। **'प्रतिभाति'** या **'प्रतिभान्ति'** के अतिरिक्त **'प्रतिभान'** शब्द का प्रयोग भी वैदिक साहित्य में उपर्युक्त अर्थ में उपलब्ध होता है। **महोपनिषद्** में कहा गया है-

न बाहौ नापि हृदये सद्रूपं विद्यते मनः।
यदर्थप्रतिमानं तन्मन इत्यभिधीयते॥[6]

अर्थात् किसी बाह्य वस्तु में या अन्तः करण में मन सद्रूप नहीं रहता, किसी अर्थ का प्रतिमान या प्रतीति ही मन है।

'प्रति उपसर्गपूर्वक **'भा'** धातु का प्रयोग **'झटिति साक्षात्कार'** विषय का तुरन्त प्रतिभासित हो उठना' इन अर्थो में अन्यत्र भी मिलता है। **लाट्यायन श्रौतसूत्र** में कहा गया है- **सामासि प्रति भा भाहीत्यादित्यम्।**[7] यहाँ पर भी प्रति+भा का प्रयोग अन्तःकरण के भीतर साक्षात्कार या स्फुरण के अर्थ में हुआ है। 'भा' धातु का प्रयोग भी दिव्यज्ञान के भासित होने के अर्थ में उपनिषदों में

---

3. कठोपनिषद् 2/6
4. दशोपनिषद् अड्यार संस्करण पहला भाग, पृष्ठ 144
5. रूद्रटालंकार
6. महोपनिषद् 5/51
7. लाट्यायन श्रोतसूत्र

मिलता है। ब्रह्म को इसीलिये 'भारूप' कहा गया है।[8] **शरभोपनिषद्** में कहा गया है-**शरा जीवास्तदगेषु भाति नित्यं हरिः स्वयम्।**[9]

प्रतिभा और दर्शन- ऊपर कहा गया है कि विषय या अभिधेय के अन्तःकरण में तुरन्त साक्षात्कार होने के अर्थ में वैदिक साहित्य में प्रतिभा शब्द का प्रयोग किया गया है। इसी अर्थ में 'दर्शन' शब्द का प्रयोग भी वैदिक साहित्य में मिलता है। 'दर्शन' वैदिक साहित्य का विशिष्ट शब्द है, जिसे 'मन्त्र, सूक्त या दिव्य ज्ञान के साक्षात्कार' के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। दर्शन शब्द काव्यार्थ के साक्षात्कार के अर्थ में ऋग्वेद के सुप्रसिद्ध अस्यवामीय सूक्त में आया है। ऋषि दीर्घतमस् कहते हैं-

उत त्वः पश्यन न ददर्श वाचं उतत्वः शृण्वन् शृणोत्येनाम्।
उत त्वस्मै तन्वो जायेव पत्य उशती सुवासाः॥[10]

अर्थात् प्रतिभा रहित व्यक्ति देखता हुआ भी वाणी को नही देखता, सुनता हुआ भी वाणी को नहीं सुनता। प्रतिभाशाली के सम्मुख वाणी अपने आपको उसी प्रकार खोल देती है जैसे जाया पति के सम्मुख अपने को खोल देती है।

यास्क ने कहा है -'**ऋषिर्दर्शनात्, स्तोमान् ददर्शेत्योपनन्यवः।**'[11] अर्थात् स्तोम या स्तोत्र का दर्शन करने के कारण कवि को ऋषि कहा गया। यही बात यास्क ने अन्यत्र भी कही है-**कविः क्रान्तदर्शनो भवति।**[12]

इस प्रकार ऋचा (काव्य) का दर्शन या अन्तः करण में साक्षात्कार करने के कारण वैदिक युग में ऋषि को ही कवि भी कहा गया। 'ऋषि' और 'कवि' इन दोनों शब्दो को वैदिक साहित्य में प्रायः समानार्थक माना गया है। शतपथ ब्राह्मण में तो स्पष्ट रूप से घोषणा की गयी है-'**एते वे कवयो यद् ऋषयः।**'[13] अर्थात्

---

8. छान्दोग्य उपनिषद् 3/14
9. शैव उपनिषद् पृष्ठ 170
10. ऋग्वेद 10/71/4
11. निरूक्त 2/11
12. वही 12/13
13. शतपथ ब्राह्मण 1/41, 2/8

जो ऋषि है, वही कवि भी है। इस ऋषि या कवि के स्वतंत्र दर्शन के कारण उसके सूक्तों का अभिप्राय मौलिक तथा अन्य कवियों की रचनाओं से भिन्न होता था। यास्क ने इसीलिये कहा है कि-**उच्चावचैरभिप्रायऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति।**[14] अर्थात् ऋषियों को मन्त्रों का दर्शन या साक्षात्कार भिन्न-भिन्न अभिप्रायो से होता है।

दर्शन शब्द अथवा दृश् धातु का प्रयोग उपनिषदों में परम-तत्व का साक्षात्कार या आत्मसाक्षात्कार के अर्थों में अनेक स्थानों पर मिलता है। कठोपनिषद् में कहा गया है-

अणोरणीयान् महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितं गुहायाम्।
तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः।।[15]

शरभोपनिषद् में इसी पद्य को किंचित् परिवर्तन के साथ दुहराया गया है।[16] यहाँ 'पश्यति' का प्रयोग आत्मसाक्षात्कार के अर्थ में ही है। दृश् धातु की समानार्थक ईक्ष् धातु का भी प्रयोग इसी सन्दर्भ में उपनिषदों में किया गया है। उदाहरणार्थ-

परांचि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात् पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद् धीरः प्रत्यागात्मानमेक्षत्।।[17]

आचार्य शंकर ने अपने कठोपनिषद्-भाष्य में इसी आधार पर 'दर्शन' को आत्मा का लिंग माना है।[18] साथ ही, उन्होंने इस सन्दर्भ में 'पश्यति' का अर्थ भी **'साक्षात् विजानाति'** यह किया है।[19]

वैदिक कवियों के अनुसार उन कवियों ने अपनी रचनाओं का **'दर्शन'** या **'साक्षात्कार'** किया था, किन्तु यह दर्शन सर्वथा दिव्य और अलौकिक हो, ऐसा

14. निरूक्त 7/3
15. कठोपनिषद् 2/20
16. शैव उपनिषद्स पृष्ठ 171
17. कठोपनिषद् 4/42
18. वही पृष्ठ 74
19. वही पृष्ठ 74

नहीं था। उन्होंने उसकी रचना में बुद्धि का योग भी स्वीकार किया है। ऋग्वेद के एक कवि ने अपनी रचना को **'नवीन धी'** (बुद्धि) से संयुक्त कहा है-**तं वो धिया नवस्या शविष्ठं प्रत्नं प्रत्नवत्परितं सुमध्ये।**[20] काव्य में नवीनता या नवोन्मेष की बात वैदिक कवियों ने अनेको स्थानों पर कही है- **नवं तु स्तोममग्नये।**[21] वैदिक कवियों की यह 'नवीन धी' संस्कृत काव्यशास्त्रियों की **'नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा'** से साम्य रखती है। वैदिक कवियों ने अपने काव्य को **'हृत्'** या हृदय के द्वारा तक्षण किया गया-**प्र वां मन्मान्यचससे नवानि कृतानि ब्रह्म जुजुषन्निमानि।**[22] तथा इस प्रकार भी कहा गया है-**एष वः स्तोमो मरुतो नमस्वन्हृदा तष्टो मनसा धायि देवाः।**[23] मन के द्वारा अनुचिन्तित भी कहा गया है-**एतानि ते अग्न उचथानि वेधो जुष्टानि सन्तु मनसे हृदे च।**[24]

2.1.2 निरुक्त में प्रतिभा

वैदिक साहित्य की परम्परा में निरुक्तकार यास्क ने 'प्रति, उपसर्गपूर्वक 'भा' धातु का प्रयोग काव्य के स्फुरण या विषय के मन में साक्षात्कार के अर्थ में किया है। ऋग्वेद के प्रथम मंडल के 105 वें सूक्त की व्याख्या में यास्क ने कहा है-**त्रितमेतत् सूक्तं कूपे प्रतिबभौ।**[25] अर्थात् कूप में पड़े त्रित नामक ऋषि या कवि को यह सूक्त 'प्रतिभात' हुआ था। यहाँ पर स्पष्ट ही, प्रतिभात होने से यास्क का अभिप्राय सूक्त या काव्य के मन में स्फुरित होने से है। काव्य को प्रतिभासित करने वाले शक्ति को यास्क मेधा के समकक्ष मानतें हैं, क्योंकि इसी स्थल पर उन्होंने आगे कहा है-**त्रितस्तीर्णतमा मेधया बभूव।**[26] अर्थात्, त्रित नामक ऋषि इस सूक्त की रचना करके अपनी मेधा के द्वारा संकट से पार हुआ।

---

20. ऋग्वेद 6/22/7
21. वही 7/15/4
22. वही पृष्ठ 7/61/7
23. वही पृष्ठ 1/17/2
24. वही 1/73/10
25. निरुक्त 4/6
26. वही पृष्ठ 77

उपनिषदों की ही भाँति यास्क ने 'प्रतिभाति' का प्रयोग आत्म साक्षात्कार या परमतत्त्व के अन्तः करण में भासित होने के लिये भी किया है- **प्रतिभाति लिङ्गो महानात्मा।**[27] प्रतिभा का विशेष रूप में प्रतिपादन **निरुक्त परिशिष्ट** में उपलब्ध होता है, यद्यपि इस सम्बन्ध में विवाद है कि उक्त परिशिष्ट यास्क की ही रचना है, अथवा प्रक्षिप्त है। तथापि हम उसे वैदिक साहित्य की ही एक कड़ी मान सकते हैं। निरुक्त परिशिष्ट में सृष्टि के विभिन्न तत्व प्रलय काल में किस प्रकार एक दूसरे में विलीन होते है, इसका निरुपण करते हुए कहा गया है-

भूतग्रामः पृथिवीमपियन्ति, पृथिवीरपः, आपो
ज्योतिषतम्, ज्योतिर्वायुं वायुराकाशम्, आकाशो
मनो, मनो विद्यां, विद्या महान्तमात्मानम्,
सा स्वपिति युगसहस्रम्।[28]

अर्थात् प्रलय की दशा में समस्त भूत पृथिवी में, पृथिवी जल में, जल अग्नि में, अग्नि वायु में, वायु आकाश में, आकाश मन में, मन विद्या में, विद्या महानात्मा में, महानात्मा प्रतिभा में तथा प्रतिभा प्रकृति में शयन करती है।

यहाँ पर प्रतिभा को मन, विद्या और आत्मा से भी सूक्ष्म तत्त्व मानते हुए उसे एक दिव्य और अनिर्वचनीय शक्ति के रूप में स्वीकृति दी गयी है।

2.2 इतिहास में प्रतिभा

संस्कृत साहित्य की परम्परा में रामायण और महाभारत इन दोनों ग्रंथो को इतिहास की संज्ञा दी गयी है। वास्तव में रामायण और महाभारत भारतीय साहित्य के उपजीव्य ग्रंथ है। इनकी रचना विभिन्न कालखण्डों में कई शताब्दियों तक चलती रहती है। दोनों ही ग्रंथ भारतीय संस्कृति के विश्वकोश है।

इतिहास काव्यप्रतिभा जैसी प्राचीन अवधारणा का मूल रूप इतिहास और पुराणों में भी खोज जाना चाहिये।

---

27. निरुक्त पृष्ठ 229
28. वही परिशिष्ट 2, 14/4, 17/4

2.2.1 वाल्मीकि रामायण में प्रतिभा

रामायण भारतीय साहित्य का आदिकाव्य है। इससे भारतीय संस्कृति के विभिन्न पक्षों पर ही प्रकाश नहीं पड़ता, अपितु तत्कालीन काव्य-सम्बन्धी अनेक मान्यताएँ भी स्पष्ट होती हैं।

वाल्मीकि ने अपने आदर्श नायक राम को 'प्रतिभावान्' या प्रतिभा से सम्पन्न कहा है।[29] अतः वे व्यक्ति में प्रतिभा को एक विशिष्ट गुण मानते है। यह स्पष्ट है।

काव्य की सर्जना अनुभूति के विशिष्ट उद्वेलन के समय होती है-ऐसा रामायण के रचनाकार का मत प्रतीत होता है। रामायण के प्रारंभ में क्रौंचवध के समय वाल्मीकि के मुख से अनजाने कविता के स्फुरण के वर्णन में इस मत की पुष्टि होती है। क्रौंचवध को देखकर वाल्मीकि के भीतर से काव्य फूट पड़ता है, और उसके बाद वे सोचते हैं कि इस शोकार्त पक्षी को देखकर यह मेरे मुँह से क्या निकल गया-**शोकार्तेनास्य शकुनेः किमिदं व्याहृतं मया।**[30] इस प्रसंग में वाल्मीकि को 'महाप्राज्ञ' कहकर स्मरण किया गया है।[31] इससे यह स्पष्ट होता है कि रामायण के रचनाकार की यह धारणा मान्य थी कि कवि एक विशिष्ट प्रज्ञा से सम्पन्न होता है। साथ ही, उसका यह भी विश्वास प्रतीत होता है कि प्रातिभ उन्मेष के समय कवि जो कुछ कहता है वह अन्यथा नहीं हो सकता। इसीलिये इस प्रसंग में उसने वाल्मीकि के मुख से कहलाया है-**शोकार्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवतु नान्यथा।**[32] इसी प्रसंग में ब्रह्मा वाल्मीकि के समक्ष प्रकट हो कर जो कुछ कहते हैं, उसमें रामायणकालीन काव्यप्रतिभा की धारणा अधिक स्पष्ट रूप में सामने आती है।

श्लोक एवास्त्वयं बद्धो नात्र कार्या विचारणा।
मच्छन्दादेव ते ब्रहन् प्रवृत्तेयं सरस्वती।।

29. रामायण, 1/1/15
30. वही, 1/2/16
31. वही, 1/2/17
32. वही बालकाण्ड 2/18
33. वही बालकाण्ड 2/31-35

यच्चाप्यविदितं सर्व विदितं ते भविष्यति।
न ते वागनता काव्ये काचिदत्र भविष्यति।।[33]

अर्थात् यह श्लोक तुम्हारे द्वारा निबद्ध हुआ है। इसमें विचार करने की आवश्यकता नहीं। हे ब्रह्मन्, मेरी इच्छा से ही सरस्वती तुम्हारे भीतर प्रवृत्त हुई है। जो कुछ भी दूसरों के लिये अविदित है, वह तुम्हारे लिये विदित हो जायेगा। काव्य में आकर तुम्हारी वाणी कभी भी मिथ्या नहीं होगी।

उपर्युक्त पंक्तियों में काव्यप्रतिभा को स्वतः स्फुरित होने वाली कहा गया है। यह स्फुरण मनुष्य की इच्छा के अधीन नहीं है। क्योंकि दर्शन में कहा गया है कि प्रतिभा अथवा प्रातिभ ज्ञान से मनुष्य सर्वज्ञ हो जाता है और उसके भीतर सब कुछ प्रतिभासित हो उठता है-यह मन्तव्य इन दर्शनों में मान्य है, जिसे रामायण की उक्त इन पंक्तियों में भी स्वीकृति मिली है। इसी प्रसंग में वाल्मीकि संबध में कहा गया है-उस उदार दर्शन वाले कवि ने रामचरित की रचना की है।[34] यहाँ 'उदारदर्शन' इस विशेषण के द्वारा उस विशिष्ट कवि दृष्टि की ओर संकेत है, जिसका आध्यात्मिक स्वरूप हम वेदों और उपनिषदों में देख चुके हैं।

कवि ने अपनी प्रतिभा से अतीत और अनागत वस्तुओं को भी प्रत्यक्ष करा देता है यह बात रामायण में वाल्मीकि की रचना की विशेषता बताते हुए कही गयी है-**चिरनिर्वृत्तमप्येतत् प्रत्यक्षमिव दर्शितम्।**[35]

इस प्रकार रामायण से कवि प्रतिभा के स्वरूप पर महत्त्वपूर्ण सामग्री तो प्राप्त होती ही है, प्रतिभा शब्द का प्रयोग भी इस ग्रंथ में उसके विशिष्ट अर्थ में प्राप्त होता है। वाल्मीकि के 'प्रतिभा' का प्रयोग किसी दिव्य वस्तु के सहसा अन्तःकरण में प्रतिभासित हो उठने के अर्थ में किया है।[36]

2.2.2 महाभारत में प्रतिभा

महाभारत के संबंध में यह सत्य ही कहा गया है कि धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष के विषय में 'जो जहाँ है, वह अन्यत्र भी है, पर जो यहाँ नहीं है, वह अन्यत्र भी

---

34. रामायण 1/2/42
35. वही 1/4/17
36. वही 1/55/17

कहीं नहीं है।' महाभारत में सांख्य, योग, वेदान्त आदि दर्शनों के सिद्धान्त, विभिन्न रूपों में मिलते है। इसी प्रकार प्रतिभा की अवधारणा भी विभिन्न रूपों में अलग-अलग स्थानों पर इस ग्रंथ में है। भौतिक जगत् से भिन्न पदार्थों का प्रत्यक्ष कराने वाली शक्ति के लिये उपनिषदों की भाँति ही महाभारत में **'चक्षुः'** शब्द का प्रयोग है। एक स्थान पर विद्या को सर्वोतम चक्षु कहा गया है-**नास्ति विद्यासमं चक्षुः।**[37]

शुक को दिव्यज्ञान प्राप्त होने पर व्यास उनसे कहते हैं कि- **दिव्यं ते चक्षुरुत्पन्नं स्वस्थं ते निर्मलं मनः**[38] अर्थात् तुम को दिव्य चक्षु की प्राप्ति हो चुकी है-

महाभारत में कई स्थानों पर लोकोत्तर तत्त्व के साक्षात्कार के लिये 'दर्शन' या दृश्-धातु से बने शब्दों का भी वेदों और उपनिषदों के ही समान प्रयोग किया गया है। गीता में कहा गया है-**दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमेश्वरम्।**[39]

इस प्रकार विराट् तत्त्व के साक्षात्कार के लिये दिव्य चक्षु की उपलब्धि अपेक्षित है। इस साक्षात्कार के लिये महाभारत में अन्यत्र कहा गया है-

पश्यत्यात्मानमात्मनि।[40]
दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।[41]
एवं सप्तदशं देहे वृतं षोडशभिर्गुणेः।
मनीषी मनसा विप्रः पश्यात्मानमात्मनि।।[42]

महाभारत में **'प्रज्ञा'** शब्द का प्रयोग भी विभिन्न अर्थों में मिलता है। प्रज्ञा के द्वारा मनुष्य सांसारिक सफलता प्राप्त करता है। कृषि, धान्य-संग्रह, यान-आसन इत्यादि का प्रयोग प्रज्ञावान् पुरुष करते हैं। प्रज्ञा के द्वारा ही सभी कार्यव्यापारों का संयोजन संभव होता है। प्रज्ञा ही मनुष्य को श्रेय या कल्याण की प्राप्ति कराती है-

---

37. महाभारत शान्तिपर्व 3/6/6
38. वही शान्तिपर्व 13/315/28
39. भगवत् गीता 11/8
40. महाभारत शान्तिपर्व 238/12
41. वही, 239/15
42. वही, 238/5

यस्तु पश्यन् स्वभावेन बिना भावमचेतनः।
पुष्यते च पुनः सर्वान् प्रज्ञया हेतुमुक्तकान्।
कृष्यादीनीह कर्माणि शस्यसंहरणानि च।
प्रज्ञावद्भिः प्रक्लृप्तानि यानासनगृहाणि च।
आक्रीडानां गृहाणां च गदानामगदस्य च।
प्रज्ञावन्तः प्रयोक्तारो ज्ञानवद्भिरनुनिष्ठताः।
प्रज्ञा संजाजयत्यथैः प्रज्ञा श्रेयोधिगच्छति।
राजानो भुञ्जते राज्यं प्रज्ञया तुल्यलक्षणाः।[43]

इस प्रकार यहाँ प्रज्ञा को विलक्षण बुद्धि या बुद्धि के उत्कृष्टतम रूप मे देखा गया है। किन्तु महाभारत में प्रज्ञा उस अर्थ में भी स्वीकृत है, जिस अर्थ में योग आदि दर्शनों में। ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाले साधक को यहाँ प्रज्ञावान् कहा गया है। कृतप्रज्ञ होने के कारण ही साधक अनागत और अनैतिह्य तत्त्वों का साक्षात्कार करने में समर्थ होता है–

प्रज्ञावान् श्रोत्रियो यज्वा कृतप्रज्ञोऽनसूयकः।
अनागतमनेतिह्यं कथं ब्रह्माधिगच्छति।।[44]

प्रतिभा का निरूपण भी महाभारत में कम से कम दो अलग अलग अर्थों में उपलब्ध होता है। एक स्थान पर प्रतिभा को योग साधना के उपसर्गों में गिनाया गया है। साधक को आत्मा में युक्त होना चाहिये। वह पाँचों इन्द्रियों के पाँचों विषयों का परिहार करके प्रतिभा और अपवर्ग का प्रतिसंहार करे तथा सभी इन्द्रियों का मन में अभिनिवेश करे–

पंचानामिन्द्रियाणां तु दोषानाक्षिप्य पंचधा।
शब्दं रूपं तथा स्पर्शं रसं गन्धं तथैव च।
प्रतिभामवर्गं च प्रतिसंहृय मैथिल।
इन्द्रियग्राममखिलं मनस्यभिनिवेश्य च।।[45]

43. महाभारत शान्तिपर्व 237/3/9
44. वही 239/2
45. वही 3/6/13-14

अन्य स्थान पर महाभारत में कहा गया है कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध इन पाँच विषयों के साथ अहंकार और बुद्धि पर भी विजय प्राप्त कर लेने पर सम्पूर्ण रूप में निर्दोष प्रतिभा उपलब्ध होती है-

न चास्य तेजसा रूपं दृश्यते शक्यये तथा।
अहंकारेऽस्य विजिते पञ्च ते स्युर्वशानुगाः।
षण्णामात्मनि बुद्धौ च जितायां प्रभवत्यय।
निर्दोषप्रतिभा तेन कृत्स्ना समभिवर्तते॥[46]

स्पष्ट ही, प्रतिभा के ये दोनों अर्थ एक दूसरे के प्रायः विपरीत हैं। इन दोनों अर्थों के साथ महाभारत में, अभिव्यक्ति की सामर्थ्य के लिये भी प्रतिभा का प्रयोग मिलता है। प्रतिभा ऐसी शक्ति को कहा गया है, जिससे कोई सूक्ष्म, साधु, समुद्दिष्ट, तथा नियत वस्तु प्रकट किया जा सके।

सूक्ष्मं साधु समुद्दिष्टं नियतं ब्रह्मलक्षणम्।
प्रतिभा त्वस्ति मे काचित् तां ब्रूयामनुमानतः॥[47]

2.3 पुराणों में प्रतिभा

यद्यपि पुराणों में से कुछ का रचनाकाल विद्वानों ने आठवीं- नवीं तक स्वीकार किया है, किन्तु इस सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते कि पुराणों की परम्परा अत्यंत प्राचीन है। पुराण का प्राचीनतम उल्लेख **अथर्ववेद** में मिलता है। **उपनिषदों** में भी पुराणों के संदर्भ है। पुराण यह नाम ही उनकी प्राचीनता का सूचक है। कुछ विद्वान तो पुराण की रचना का उपक्रम वैदिक संहिताओं के विभाजन के भी पूर्व मानने के पक्ष में है। संभव है कि वैदिक संहिताओं, इतिहास तथा पुराणों की रचना मौलिक रूप मे समानान्तर ही चलती रही हो और पुराणों को लिखित तथा व्यवस्थित रूप बाद में मिला हो। इसीलिये भारतीय परम्परा में रचनाकाल और विषय वस्तु के महत्व की दृष्टि से इतिहास और पुराण दोनों को वैदिक संहिताओं के समकक्ष रखा जाता रहा है, जैसा कि संस्कृत की इस प्राचीन उक्ति में कहा गया है-**'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।'**

---

46. महाभारत 26/236

47. वही 12/259/1

पुराणों में प्रतिभा का एक रूप शैव दर्शन की ही भाँति जगत् की सृष्टि करने वाली शक्ति के रूप में मिलता है। **मत्स्यपुराण** में कहा गया है कि सभी शरीर-धारियों के चित्त में ब्रह्मकला नामक शक्ति रहती है-**चित्ते ब्रह्मकला नाम शक्तिः सर्वशरीरिणाम्।**[48]

शाक्तदर्शन की पराशक्ति या प्रतिभा के समान पुराणों में निरूपित यह शक्ति उपास्य तथा मुक्तदायिनी है-

येऽर्चयन्ति परां शक्तिं विधिनाविधनापि वा।
न ते संसारिणो नूनं मुक्ता एव न संशयः।।[49]

वायुपुराण के अनुसार मति, ब्रह्म, पूः, बुद्धि, स्याति, ईश्वर, प्रज्ञा, चिति, स्मृति, संवित् तथा विनधुर ये मन के रूप हैं। मन सभी वस्तुओं का साक्षाकार कर सकता है, इसलिये उसे प्रज्ञा कहते है। उससे सम्पूर्ण ज्ञान की उपलब्धि होती है तथा उस ज्ञान का साक्षी होने के कारण उसे संवित् कहते हैं।[50]

वायु पुराण में प्रतिभा का एक अन्य रूप में भी वर्णन आता है। इसकी तुलना महाभारत में प्रतिपादित प्रतिभा से की सकती है। इस पुराण में प्रतिभा को योग की एक सिद्धि कहा गया है। जो साधक के मुक्ति के मार्ग में एक उपसर्ग है-

प्रतिभाश्रवणे चैव देवानां चैव दर्शनम्।
भ्रमावर्तश्च इत्येते सिद्धिलक्षणसंज्ञिताः।।[51]

यहाँ पर **प्रज्ञा** को **चिति** और **संवित्** का पर्याय बताया गया है। शैव दर्शन में ये दोनों नाम प्रतिभा के लिये प्रयुक्त होते हैं। शैव दर्शन के समकक्ष जगत् की सृष्टि करने के संदर्भ में शक्ति का निरूपण अन्य पुराणों में भी उपलब्ध होता है।

भागवतपुराण मे शैव दर्शन के ही समान शिव और शक्ति दोनों को सरूप बताया गया है, जिनके द्वारा परमात्मा इस जगत् की सृष्टि करता है-

---

48. मत्स्य पुराण 13/53
49. ब्रह्माण्ड पुराण 4/5/31
50. वायु पुराण 4/25/34/35
51. वही 12/6

त्वमेव भगवन्नेतच्छिवशक्त्योः सरूपयोः।
विश्वं सृजसि पास्यत्सि क्रीडन्नूर्णपिटो यथा॥[52]

विष्णु पुराण में भी शक्ति को सृष्टि के समय क्षोभ का कारण तथा जगत् का निर्माण करने वाली कहा गया है। जिस प्रकार जल में संसक्त वायु जल के छोटे छोटे कणों को अपने भीतर धारण करती है, उसी प्रकार यह शक्ति सृष्टि का निर्माण करने वाले तत्त्वों को अपने भीतर धारण करती है।[53] विष्णु पुराण में अन्यत्र कहा गया है कि ब्रह्मा को सृष्टि करने के लिये भी यही शक्ति प्रेरित करती है।[54]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि पुराणों में वर्णित यह शक्ति जगत् की सृष्टि की मूल प्रेरणा है। शैव दर्शन के चिन्तकों ने कवि के भीतर रहने वाली शक्ति को इसी शक्ति का एक रूप माना है।

***

52. भागवत पुराण 4/6/43
53. विष्णु पुराण, 2/7/31
54. वही 1/5/47

तृतीय अध्याय

भारतीय दर्शन में प्रतिभा

भारतीय दर्शन का लक्ष्य आत्मान्वेषण या सत्य का साक्षात्कार है। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिये मनुष्य में एक विशेष बौद्धिक शक्ति अपेक्षित है। इस विचार के साथ भारतीय दर्शन में प्रतिभा या प्रज्ञा के सिद्धान्त की अवतारणा होती है।

भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों में प्रतिभा शब्द का प्रयोग प्रमुख रूप से दो अर्थों में मिलता है-

(1) एक विशेष बौद्धिक या मानसिक शक्ति।

(2) मनुष्य की चेतना में सत्य का प्रतिभास होना। प्रतिभा वह तत्त्व है जिसके द्वारा मनुष्य सत्य का अव्यवहित रूप में साक्षात्कार करता है।

महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज के मत में **'प्रतिभा'** का **'भारतीय दर्शन'** के क्षेत्र में वही महत्व है, जो **'पाश्चात्य दर्शन'** में **'सहज ज्ञान'** (इंट्यूशन) का है।[1] प्रतिभा शब्द से संकेतित होने वाले ये दोनों अर्थ परस्पर सम्बद्ध है। इसके साथ ही आगमों में प्रतिभा का प्रयोग **'परासंवित', 'चिति शक्ति'** अथवा **'परमात्मा'** के अर्थ में भी हुआ है। दर्शन के विभिन्न प्रस्थानों के

---

1. 'आस्पेक्ट्स आफ इंडियन थाट' नामक पुस्तक में संकलित महामहोपाध्याय गोपीनाथ 'कविराज का डॉक्ट्राइन आफ प्रतिभा इन इंडियन फिलासफी' शीर्षक निबंध पृष्ठ 1

साथ साथ प्रतिभा की दार्शनिक अवधारणा का विकास व्याकरण के क्षेत्र में भी हुआ है। व्याकरण की एक शाखा स्फोट दर्शन में **'प्रज्ञा'** और **'प्रतिभा'** पर विशद विवेचन हुआ है।

3.1 न्याय-वैशेषिक दर्शन में प्रतिभा

वैशेषिक सूत्र में प्रतिभा को प्रतिपादित करने के लिये **'आर्षज्ञान'** तथा **'आर्ष दर्शन'** शब्दों का प्रयोग हुआ है- **आर्षसिद्धदर्शनं च धर्मेभ्यः।**[2] सुषुप्ति और समाधि की दशाओं में मन देश और काल की परिधि से ऊपर उठकर आत्म चैतन्य का साक्षात्कार करता है। यही प्रतिभा अथवा आर्षज्ञान है। इस प्रकार न्याय और वैशेषिक की प्रतिभा संबधी अवधारणा वैदिक चितंन से अनुबद्ध है। क्योंकि वैदिक साहित्य में **आर्ष चक्षु** तथा **दर्शन** आदि शब्द प्रतिभा के पर्याय के रुप में व्यवहृत हुए है। अतः इन दर्शनों में आर्ष-दर्शन का व्यवहार वैदिक पम्परा से है।

परवर्ती नैयायिकों ने प्राचीन न्याय और वैशेषिक में प्रतिपादित प्रतिभा की इस अवधारणा को यथातथ्य रूप में स्वीकार नहीं किया। **जयंत भट्ट** ने अपनी **न्याय मंजरी** में कहा है कि **प्रतिभा** और **आर्ष** ज्ञान दोनों एक नही हो सकते, क्योंकि प्रतिभा ऐसी शक्ति है, जो सामान्य मनुष्य में भी सहसा प्रतिभासित हो उठती है। जब कि आर्ष ज्ञान की उपलब्धि किसी योगी के द्वारा सामाधिस्थ हो कर ही की जा सकती है।[3] गोपीनाथ कविराज का कहना है कि जयंत भट्ट आदि नैयायिकों का प्रतिभा की इस अवधारणा को संकुचित कर देना उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि दर्शन के क्षेत्र में प्रतिभा की अवधारणा का उद्गम वस्तुतः योग दर्शन से हुआ है, जहाँ योगियों के आर्ष ज्ञान के अन्तर्गत माना गया है।

न्याय दर्शन प्रतिभा को बुद्धि से भिन्न मानता है। इसीलिये **न्यायसिद्धांत मुक्तावली** में किसी भी ग्रंथ की समाप्ति के लिए बुद्धि के साथ-साथ प्रतिभा को भी आवश्यक माना गया है।[4] प्रतिभा को इस दर्शन में अन्तः स्फूर्त तत्त्व के

2. वैशेषिक सूत्र 9/2/13
3. आस्पेक्ट्स आफ इंडियन थाट पृष्ठ 5
4. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली पृष्ठ 8

रूप में ही स्वीकृति मिली है। न्यायसूत्र में अप्रतिभा को निग्रह-स्थानों में से एक गिना गया है। उनका मानना है कि-**'उत्तरस्याप्रतिपतिरप्रतिभा'**[5] अर्थात् उत्तर की तुरन्त प्रतिपति न हो पान ही अप्रतिभा है। इस प्रकार **प्रतिभा का अर्थ नैयायिक के मत में सद्यः स्फुरित होने वाला नवीन बोध है।**

3.2 योग-दर्शन में प्रतिभा का स्वरूप

योग दर्शन में **शब्द, ज्ञान** तथा **अर्थ** इन तीनों का पृथक् पदार्थ माना गया है, अतः इस दर्शन में **प्रज्ञा** या **प्रतिभा** की धारणा पर भी ज्ञान के शब्द और अर्थ से भिन्न होने की मान्यता का प्रभाव बड़ा है।

योग दर्शन में **व्याधि, संशय, प्रमाद** तथा **आलस्य** ये चित्त के विक्षेप माने गये हैं।[6] इन विक्षेपों के प्रतिषेध या निराकरण के लिए किसी एक तत्त्व में चित्त का अभ्यास अनिवार्य माना गया है। इस प्रकार से **अभ्यास** आदि के द्वारा चित्त में **विशोका** तथा **ज्योतिष्मती प्रवृत्ति** उत्पन्न होती है।[7] हृदय-पद्म के सम्पुट के मध्य में प्रशांत क्षीरोदधि सदृश चित्त में स्थित सत्त्व की भावना करने से प्रज्ञा का आलोक उपलब्ध होता है, जिससे चित्त की सभी वृत्तियों का क्षय होकर उसमें स्थिरता आती है।[8] वृत्तियों का क्षय होने पर चित्त में आमतत्त्व को लेकर एकाग्रता और तन्मयीभाव उत्पन्न होता है। यह तन्मयभाव ही समापत्ति है।[9] योगसूत्र में यह समापति चार प्रकार बताई गयी है। पहली **सवितर्का** नामक समापत्ति में शब्द, अर्थ और ज्ञान ये तीनों संकीर्ण रूप में रहते है। **निर्वितर्का** में शब्द, अर्थ और स्मृति का विलय होकर आत्म तत्त्व प्रतिभासित होता है। सवितर्का और निर्वितर्का के अनन्तर सूक्ष्म विषयों वाली **सविचारा** और **निर्विचारा** समापत्तियाँ आती है। ये चारों समापत्तियाँ सबीज अथवा सम्प्रज्ञात **समाधि** कहलाती है। इस समाधि में निर्विचारा समापत्ति के द्वारा चित्त क्लेश-वासना रहित होकर स्थिर हो जाता है। इस स्थिरता में ऋतम्भरा प्रज्ञा उदित होती है-**ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा।**[10] पतंजलि के

5. न्यायसूत्र 5/2/18
6. पातंजलयोगसूत्र, 1/31
7. वही, 1/37
8. वही 1/37
9. वही 1/42
10. वही, 1/42, 49

व्याख्याकार भोजराज के अनुसार यह प्रज्ञा ऋत या सत्य को धारण करती है, तथा कभी विपर्यय से आच्छादित नहीं होती, इसलिये इसे ऋतम्भरा प्रज्ञा कहते हैं। इस प्रज्ञा के आलोक में सभी वस्तुओं को उनके यथातथ्य रूप में देखता हुआ योगी प्रकृष्ट योग की सिद्धि करता है।[11] इसी का दूसरा नाम **प्रतिभा** है।

पतंजलि का कथन है कि यह प्रज्ञा सामान्य प्रज्ञा से भिन्न है। सामान्य प्रज्ञा दो प्रकार की होती है- 1.श्रुति या आगम के ज्ञान से उत्पन्न होने वाली। 2.दूसरी अनुमान से होने वाली। ये दोनों ही प्रकार की प्रज्ञाएँ सामान्य विषया और विशेष-विषया होती है।[12] ऋतम्भरा प्रज्ञा इनसे भिन्न है क्योंकि यह निर्विचार की स्थिति से उत्पन्न होती है और विशेष विषया होती है।[13] भोज के अनुसार इस प्रज्ञा में सूक्ष्म, व्यवहित या तिरोहित तथा विप्रकृष्ट या दूरस्थ तत्वों का वैशिष्ट्य भी सुस्पष्टतया भासित हो जाता है।

इस **ऋतम्भरा प्रज्ञा** को ही पतंजलि ने अपने योगसूत्र के विभूतिपाद में **प्रतिभा** के रूप में वर्णित किया है। चित की ज्योतिष्मती आदि प्रवृत्तियों के द्वारा प्रातिभ ज्ञान या प्रतिभा उत्पन्न होती है। यह प्रतिभा मनोमात्र जन्य है तथा अन्य किसी निमित्त की अपेक्षा नही रखती। प्रतिभा में चित्त स्थिर रहने पर साधक सर्वज्ञ हो जाता है।[14] जब साधक के निर्मल सत्त्वगुण में चैतन्य की संक्रान्ति होती है, और वह उसमें चित्त को संयमित करने पर **प्रातिभ ज्ञान** होता है।[15] इस प्रातिभ ज्ञान के द्वारा भी साधक पूर्वोक्त विधि के अनुरूप सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट विषयों को जाग्रत दशा में भी स्पष्ट देख सकता है।

पंतजलि द्वारा उल्लिखित यह प्रज्ञा वस्तुतः योगसाधना के द्वारा उपलब्ध होने वाली एक स्थिति है। योगसूत्रभाष्य में उद्धृत इस पद्य में बताया गया है कि यह प्रज्ञा तीन प्रकार से प्रकल्पित होती है-

11. पातंजल 1/49 तथा इस पर भोजवृत्ति
12. वही 1/50
13. वही 3/34
14. वही 3/36/37
15. वही योगसूत्र भाष्यविवरण पृष्ठ 114

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च।
त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम्।।[16]

अर्थात् आगम से, अनुमान से तथा ध्यान और अभ्यास के द्वारा। इन तीनों रीतियों से प्रज्ञा की उपलब्धि कर के साधक योग की उत्तम दशा तक पहुँचता है।

शंकरभगवत्पाद ने योगसूत्रभाष्य के विवरण में पतंजलि की प्रज्ञासम्बन्धी अवधारणा के सम्बन्ध में पर्वत के शिखर पर स्थित पुरुष का दृष्टान्त दिया है-

प्रज्ञाप्रसादमाह्य न शोच्यश्शोचतो जनाः।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान् प्राज्ञोनुपश्यति।।[17]

अर्थात् प्रज्ञा के प्रसाद पर आरूढ होकर पुरुष सांसारिक सुख-दुख से ऊपर उठ जाता है। जिस प्रकार पर्वत के शिखर पर स्थित व्यक्ति पृथ्वी के दृश्य को उसकी सम्पूर्णता में तटस्थ होकर देख सकता है, उसी प्रकार प्रज्ञा (प्रज्ञा से युक्त) व्यक्ति भी सांसारिक विषयों को निर्लिप्त होकर देखता है।

इस प्रकार पतंजलि के दर्शन में प्रतिभा **उत्पाद्या** है। यह **योगाभ्यास** से उत्पन्न हो सकती है। यह अवधारणा काव्यशास्त्र में भी प्रतिफलित हुई है। जहाँ कुछ आचार्य काव्यप्रतिभा को भी उत्पाद्य या अभ्यासजन्य बताते हैं।

योग साधना की एक विशिष्ट स्थिति होते हुए भी प्रज्ञा को लेकर किये गये पतंजलि के इस विवेचन से **संस्कृत काव्यशास्त्र का प्रतिभा विषयक चिन्तन** अनुप्राणित अवश्य हुआ है। काव्यशास्त्र के आचार्यों ने स्वीकार किया है कि जिस प्रकार योग की प्रज्ञा में स्थित हो कर योगी वैयक्तिक सुख-दुःख से ऊपर उठ जाता है, उसी प्रकार की स्थिति प्रज्ञा के उन्मेष के समय कवि की होती है। वाल्मीकि की प्रतिभा से काव्य के प्रथम स्फुरण की चर्चा करते हुए अभिनवगुप्त ने कहा है कि मुनि आदि का वैयक्तिक शोक उनके काव्य में व्यंजित नहीं हुआ है- **न तु मुनेः शोक इति मन्तव्यम्। एवं हि सति तद्दुःखेन सोपि दुःखित**

16. पातंजल योगसूत्र पृष्ठ 114
17. वही भाष्यविवरण पृष्ठ 116

इति कृत्वा रसस्यात्मेति निरवकाशं भवेत्।[18] प्रज्ञा के द्वारा योगी शैलशिखरस्थ व्यक्ति के समान जागतिक पदार्थों को देखता है। यही बात कवि-प्रतिभा पर भी लागू होती है। साथ ही पतंजलि ने प्रज्ञा से योगी के सर्वज्ञ हो जाने की बात कही है। काव्यशास्त्रियों ने भी कवि के सब कुछ अनुगम्य होने की बात प्रकारान्तर से अनेकत्र दुहराई है। यही नहीं, योग दर्शन की प्रज्ञा तथा काव्यशास्त्र की प्रतिभा में कितना अधिक सम्बन्ध है, यह उस समय स्पष्ट हो जाता है, जब हम देखते है कि भट्टतोत की प्रतिभा की सुप्रसिद्ध परिभाषा **'प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता'** योग दर्शन के विचार से अनुप्राणित है। क्योंकि योगसूत्रभाष्यविवरण में प्रज्ञा की उपलब्धि के द्वारा योगी के चित्त मे नव-नव संस्कारों के उन्मेष होने की बात स्पष्ट रूप से कही गयी है-**समाधि प्रज्ञाप्रतिलम्भे योगिनः संस्कारो नवो नवो जायते।**[19]

प्रतिभा के संबंध में पतंजलि का यह विचार सुसंश्लिष्ट है कि उसके द्वारा साधक क्षुद्रताओं से ऊपर उठकर समग्र या अखंड को देख पाता है।

प्रतिभा के समकक्ष दर्शन या दिव्यचक्षु का प्रयोग वेद में प्राप्त हुआ है। पतंजलि के मत में दर्शन **'द्रष्टा'** का अर्थ बुद्धि किया है।[20] विज्ञान भिक्षु ने अपने योगभाष्य प्रवचन मे दर्शन का अर्थ बुद्धि किया है।[21] साथ ही इन्होंने प्रज्ञा का अर्थ 'आत्मतत्त्व का साक्षात्कार भी किया है।[22] इस प्रकार योगदर्शन में जहाँ वैदिक वाङ्मय में विद्यमान दर्शन और दिव्यचक्षु की धारणा को आगे बढाया गया है, वहीं काव्यशास्त्र के प्रतिभा विवेचन के लिये भी मार्ग प्रशस्त किया गया है।

3.3 मीमांसा दर्शन में प्रतिभा

योग दर्शन में जहाँ प्रतिभा विवेचन का विशिष्ट महत्व हैं, वहीं मीमांसा दर्शन में प्रतिभा की विशिष्ट अवधारणा का अभाव देखते है। यहीं नहीं, मीमांसा में

---

18. ध्वन्यालोक लोचन पृष्ठ 88
19. योगकोश पृष्ठ 14
20. वही पृष्ठ 14
21. आस्पेक्ट्स आफ इण्डियन थाट पृष्ठ 30
22. पूर्वमीमांसा एंड इट्स सोसेज पृष्ठ 146

कहीं-कहीं प्रतिभा की धारणा का खण्डन भी किया गया है। महामहोपाध्याय गोपनाथ कविराज का यह कथन उचित ही प्रतीत होता है कि षट् दर्शनों में मीमांसा दर्शन ही ऐसा है, जिसमें प्रतिभा के सिद्धान्त का कटु विरोध किया गया है।[23] मीमांसा दर्शन के प्रसिद्ध ग्रंथ **शास्त्रदीपिका** में प्रतिभा का खण्डन करते हुए कहा गया है कि प्रतिभा आत्म तत्त्व के साक्षात्कार या ज्ञान की उपलब्धि का स्वतन्त्र रूप से कोई साधन नहीं हो सकती। क्योंकि कहा गया है कि-**यत्प्रसादाद्धि योगिनीमप्यतीतानागत- विषयप्रत्यक्षज्ञानमिच्छन्ति योगशास्त्रविदः**[24] अर्थात् प्रतिभा के द्वारा सब कुछ आभासित हो उठता हो- यह सिद्धान्त उपस्थित किया गया है, वह मान्य नहीं है। मीमांसा दर्शन का यह प्रतिभा विरोध इस दर्शन की विशिष्ट पृष्ठभूमि से आया है। इस दर्शन में शब्द का वेद को नित्य माना गया है। कुमारिल भट्ट ने अपने श्लोकवार्तिक में कहा है-**'आगमस्य च नित्यत्वे सिद्धे तत्कल्पना वृथा।'**[25] अर्थात् आगम या वेद आदि नित्य प्रकाशित रहने वाले है। अतः प्रतिभा के द्वारा उनकी उपलब्धि होती है-ऐसा मानना संगत नही। तथापि प्रतिभा विषयक काव्यचितंन के सन्दर्भ में मीमांसकों का शक्ति सम्बन्धी विवेचन विचारणीय है। काव्यशास्त्र में प्रतिभा का एक पर्याय शक्ति भी है। शक्ति को वहाँ कवित्व का बीज माना गया है। मीमांसा दर्शन के प्रसिद्ध ग्रंथ **'प्रकरण पंचाशिका'** में कहा गया है कि संसार के सभी पदार्थों के भीतर एक विशेष प्रकार की शक्ति निहित होती है, जो प्रत्यक्ष नहीं देखी जा सकती, उसका अनुमान किया जा सकता है। उदाहरण के लिये अग्नि के भीतर दाहक शक्ति है जिसे प्रत्यक्ष नहीं देखा जा सकता, किन्तु अग्नि जब किसी पदार्थ को जलाती है तो हम उसकी शक्ति का अनुमान कर सकते है। अग्नि के भीतर दाहक शक्ति होने पर ही वह पदार्थ को जलाती है, न होने पर नहीं जलाते, जैसे कुछ परिस्थितियों में अग्नि पदार्थ को नहीं भी जलाती है। सम्भव है, काव्यशास्त्र के चिंतन पर मीमांसा के इस शक्ति सम्बन्धी चितंन का

23. रसगंगाधर प्रथम आनन पृष्ठ 27
24. ब्रह्मसूत्र भाष्य 1/1/15
25. श्लोक वार्तिक

प्रभाव पड़ा हो। मीमांसा की शक्ति के समान कवि की शक्ति भी ऐसा तत्व है, जिसकी उपस्थिति में ही काव्य का स्फुरण होता है और उसके अभाव में अथवा मंत्र या अदृष्ट से उसे प्रतिबंधित किये जाने पर काव्यरचना नहीं हो सकती।

मीमांसक तीन प्रकार की शक्ति मानता है–**सहजा, आधेया** और **पदगा**। अग्नि में दाहानुकूल शक्ति **सहजा** है, खेत में उत्पादन की शक्ति **आधेया** है तथा घट में घटत्व–बोध **पदगा** है। काव्यशास्त्र में भी सहजा और आधेया इन दो रूपों में काव्यप्रतिभा का निरूपण किया गया है। जन्म से ही कवि के साथ रहने वाली प्रतिभा सहजा है, और व्युत्पत्ति- अभ्यास अथवा अदृष्ट या भाग्य के कारण बाद में उत्पन्न होने वाली आहार्या है। काव्यशास्त्र का यह प्रतिभा विचार मीमांसक के शक्तिविचार के अनुरूप है। साथ ही मीमांसा के प्रतिभा की पूर्ण रूपेण अस्वीकृति नहीं है। अपने **'श्लोकवार्तिक'** के मंगलाचरण में कुमारिल ने परमात्मा को तीन वेदों वाले दिव्यचक्षुः के सम्पन्न बताया हैं। उपनिषदों में दिव्यचक्षुः शब्द का प्रयोग आत्मसाक्षात्कार या दिव्यज्ञान उपलब्ध कराने वाली शक्ति के लिये होता है।

3.4 वेदान्त दर्शन में प्रतिभा

वेदान्त में जहाँ आत्मसाक्षात्कार और आत्मा के स्वरूप के ज्ञान की अवधारणा उपनिषदों से ली गयी, वहीं उसके लिये व्यावहारिक साधनाएँ योगदर्शन के अनुरूप अथवा उसके अनुसार निर्दिष्ट की गयी। उपनिषदों में प्रातिभ ज्ञान के समकक्ष दर्शन, दिव्यचक्षु आदि का प्रतिपादन है। वेदान्त में भी प्रतिभा की उपलब्धि के समकक्ष दर्शन या सन्दर्शन का निरूपण किया गया है। वेदान्तसार के लेखक सदानन्द के जीव आत्मतत्व के साक्षात्कार को समझाने के लिये मुण्डकोपनिषद् से यह श्लोक उद्‌धृत किया है–

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्‌यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥[26]

---

26. वेदान्तसार

अर्थात् आत्मतत्व का साक्षात्कार कर लेने पर जीव की अहंकाररूपी हृदयग्रन्थि खुल जाती है, तथा उसके सारे संशय नष्ट हो जाते हैं। और सारे कर्म क्षीण हो जाते है। इस प्रकार यहाँ दर्शन को साधक के लिये आत्मसाक्षात्कार की विशिष्ट प्रक्रिया के रूप में स्वीकार किया गया है। वेदान्ती सुरेश्वराचार्य ने अपने तैत्तिरीययोपनिषद्वार्तिक में साधक की इस स्थिति को स्पष्ट रूप से प्रातिम ज्ञान की संज्ञा दी है-

मुमुक्षोस्तत्परन्येव श्रौतस्मार्तेषु कर्मसु।
अपि न प्रातिभ ज्ञानमाविर्मवति मोक्षदम्।।[27]

अर्थात् श्रुति और स्मृति में बताये गये कर्मों में तत्पर रहने वाले मुमुक्ष साधक को मोक्षदायक प्रातिभ ज्ञान की प्राप्ति होती है। तैत्तिरीय आरण्यक में इसी प्रातिभ ज्ञान को आर्ष-सन्दर्शन कहा है। आत्मसाक्षात्कार करने वाले व्यक्ति को आर्ष-सन्दर्शन की उपलब्धि होती है। तैत्तिरीयोपनिषद् में त्रिशंकु को वैदिक मंत्र का साक्षात्कार होने पर आर्षसन्दर्शन मिल जाने का वर्णन है- **त्रिशंकोर्ब्रह्मभूतस्य ह्यार्षं सन्दर्शनम्।**[28]

वेदान्त की यह दर्शन अथवा दृष्टि सम्बन्धी अवधारणा वैदिक वाङ्मय की परम्परा में है। बृहदारण्यक उपनिषद् में दृष्टा की दृष्टि के सम्बन्ध में जो कहा गया है, उसे हम यहाँ तुलनार्थ उपस्थित कर सकतें हैं- **न हि दृष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते।**[29] अर्थात् दृष्टा की दृष्टि ऐसी शक्ति है, जिसका विपर्यय कभी नही होता है।

व्यावहारिक साधना की दृष्टि से वेदान्त पंतजलि के अष्टांग योग को अस्वीकार करता है, इसीलिये योग दर्शन के प्रतिभा सिद्धान्त का भी वह अनुयायी है। शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्रभाष्य में कहा गया है कि-**यत्प्रसादादधि योगिनामप्यतीतानागतविषयप्रत्यक्षज्ञानमिच्छन्ति योगशास्त्रविदः**[30] अर्थात्

27. तेत्तिरीयोपनिषद् वार्तिक 9/160
28. वही 7/10/1
29. ब्रह्मसूत्र भाष्य 4/3/23
30. वही 1/1/5

योगियों को साधना के द्वारा अतीत और अनागत वस्तुओं का स्वतः ज्ञान हो जाता है। तथापि यह द्रष्टव्य है कि ब्रह्मसूत्र में कहा गया है कि– '**अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरं पृथक्त्ववद् द्रष्टश्च तदुक्तम्**'[31] प्रज्ञा शब्द सगुण व्रत की उपासना रूप (शाण्डिल्य आदि) विद्याओं के अर्थ में आया है। किन्तु वेदान्त में प्रज्ञा को प्राज्ञ या जीव की विशिष्ट शक्ति भी माना गया है। उपनिषदों में जीव के लिये प्राज्ञ शब्द अनेक बार आया है जैसे कि बृहदारण्कोपनिषद् में कहा गया है कि-**शरीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनान्वारूढ्युत्सर्जनमायाति यत्रेतदूर्ध्वोच्छ्वासी-भवति।**[32] इसके पश्चात माण्डूक्योपनिषद् में भी कहा गया है कि- **एवानन्दमयो एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः।**[33] ब्रह्मसूत्र शारीरिक भाष्य में प्राज्ञ को परमात्मा के समकक्ष माना है-**तस्मात् प्राज्ञविषत्वात् परिमाणान्तरश्रवणस्य न जीवस्याणुत्वं विरुद्ध्यते।**[34] ऐसी स्थिति में प्राज्ञ के लिये **प्रायेण अज्ञः** अथवा **प्रकर्षेण अज्ञः** आदि व्याख्याओं के स्थान पर प्रज्ञा से युक्त यही व्याख्या ठीक लगती है।

वेदांत ब्रह्मसाक्षात्कार को अज्ञान के आवरणभंग से जन्य मानता है। वस्तुतः आवरण भंग की अवधारणा काव्यशास्त्र मे रसास्वाद विवेचन में वेदांत से आयी है। विश्वनाथ और जगन्नाथ तो प्रत्यक्ष वेदांत से प्रभावित है। आवरण भंग में प्रतिभा की भूमिका को भी नकारा नहीं जा सकता।

3.5 शैव दर्शन में प्रतिभा

शैव दर्शन में प्रतिभा को इस सृष्टि की मूल सर्जन-शक्ति के रूप में माना गया है। इसी प्रतिभा को काव्यचितंन के क्षेत्र में शैव-दर्शन के महान आचार्य अभिनवगुप्त ने **'कविगत संवित्'** की संज्ञा दी है, जो रस का बीज है- **'बीजं यथा वृक्षमूलत्वेन स्थितं तथारसाः। सेव त संवित् कविगत--'**[35] यह प्रतिभा

31. ब्रह्मयूत्स भाष्य 3/3/29/50
32. बृहदारण्यकोपनिषद् 4/2/35
33. माण्डूक्योपनिषद् 5
34. ब्रह्मसूत्र भाष्य 2/3/21
35. अभिनवभारती 1पृष्ठ 294

सर्जन-शक्ति-स्वरूपा है, अतः इसका दूसरा नाम शक्ति भी है। अभिनव ने अपनी घटकर्परकुलकविवृति में कहा है कि कवि के लिये व्युत्पति-अभ्यास आदि की अपेक्षा उसकी शक्ति ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। कवित्व-शक्ति ही कवि की लोकोत्तर प्रतिभा है-**कवीनां शक्तिरेव बलीयसी। सा एव लोकोत्तरा व्युत्पत्तिरिति अभिधीयते। न तु अन्या कविशक्तेर्व्युत्पत्तिर्नाम काचित्।**[36] यही प्रतिभा अध्यात्म के क्षेत्र में परमेश्वर की शक्ति है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार परम शिव सृष्टि का स्वमात्र परम तत्व है। इस परमेश्वर की शक्ति विलक्षण है। जब वह सर्जना की इच्छा करता है, तो उसके दो रूप हो जाते हैं। शिव और शक्ति रूप है-**न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी। शिवः शक्तस्तथा भगवन्निचछया कर्तुमीहते। शक्तिशक्तिमतोर्भेदः शैवे जातु न वर्ण्यते।**[37] शक्ति शिव से अभिन्न है।[38] क्षेमराज ने प्रत्यभिज्ञाहृदय में इसी शक्ति को प्रतिभा कहा और बताया कि यही प्रतिभा **अक्रम, अनन्त, चिद्रूप, प्रमाता** महेश्वर है-

या चेषा प्रतिभा ततत्पदार्थक्रमर्षषिता।
अक्रमानन्तचिद्रूप प्रमाता स महेश्वरः।।[39]

अध्यात्म के क्षेत्र में जो प्रतिभा परम शिव की शक्ति है, वही काव्यसर्जना के क्षेत्र में कवि शक्ति कहलाती है। अभिनवगुप्त ने दोनों प्रकार के प्रतिभा के इन रूपों में प्रतिभा के स्वातन्त्र्य पर बल दिया है। **'घटकर्पूरकुलकविवृति'** में कहा है कि प्रतिभा के इस स्वातन्त्रय के कारण ही कवि काव्य में गुण और दोष का विवेक करते है। इस प्रकृतिमधुरस्वातन्त्रय रूप प्रतिभा वृत्ति के कारण ही महाकवि के काव्य में काव्यरचना में नियमों का अतिक्रमण भी सुन्दर रूप में परिणत होता है। अभिनवगुप्त के मत में प्रतिभा स्वातंत्रयरूपिणी है। तन्त्रालोक में उन्होंने इसी को **चित्** या **विमर्श** की संज्ञा दी है।[40]

36. घटकर्परकुलकविवृत्ति-21
37. शिवदृष्टि 3/2/3
38. ए हिस्टारिकल् एण्ड फिलासफिकल स्टडी पृष्ठ 678
39. प्रत्यभिज्ञाहृदयदर्शन
40. तंत्रालोक 2/47

अभिनवगुप्त शैवदर्शन की महत्वपूर्ण शाखा **'प्रत्यभिज्ञादर्शन'** के आचार्य हैं। प्रत्यभिज्ञा दर्शन की आगे चलकर क्रमसिद्धान्त के नाम से उपशाखा बनी। महेश्वरानन्द की **'महार्थमंजरी'** क्रमसिद्धान्त का प्रख्यात ग्रंथ है। इस ग्रंथ में भासा नामक शक्ति के रूप में प्रतिभा पर विचार किया गया है। क्रमसिद्धान्त के अनुसार सृष्टि के पाँच प्रमुख तत्त्व है। जिनमें भासा सर्वप्रथम और सर्वप्रमुख है। इसी का दूसरा नाम प्रतिभा है। महेश्वर ने इसका स्वरूप बताते हुए कहा है-

भासा नाम न प्रतिभा महती सर्वगर्भिणी।
स्वस्वभावशिवैकात्मदेशिकात्मकचिन्मयी।।
यस्यां हि भित्तिभूतायां मातृमेयात्मकं जगत्।
प्रतिबिम्बतया भाति नगरादिव दर्पणे।।
स्वातन्त्र्यरूपा सा काचिच्छक्तिः परमेष्ठिनः।
तन्मयो भगवान् देवो गुरुर्गुरुमयी च सा।।[41]

अर्थात् प्रतिभा भासा, महती, सर्वगर्भिणी (सबको आत्मसात् करने वाली) है। वह अपने स्वभाव से शिव के साथ तादाम्य रखती है। वह चिन्मयी या चैतन्यरूपा है। उसमें सम्पूर्ण विश्व उसी प्रकार प्रतिबिम्बित होते है। वह स्वातन्त्र्य रूपा तथा परमेश्वर की अनिर्वचनीय चैतन्यमय शक्ति है।

कुल सिद्धान्त प्रत्यभिज्ञा दर्शन की महत्वपूर्ण शाखा है। इस सिद्धान्त में प्रतिभा का निरूपण परा प्रतिभा अथवा कौलिकी शक्ति के रूप में किया गया है। डा. कान्तिचन्द्र पाण्डेय का मत है कि अभिनवगुप्त की प्रतिभा इन दोनों ही धारणाओं को परिष्कृत रूप में उच्च स्तर पर समन्वित किया है।[42] डा. पाण्डेय का यह भी कहना है कि परा शक्ति के रूप में प्रतिभा की आध्यात्मिक अवधारणा ही काव्य-प्रतिभा का स्रोत है। उनका यह मन्तव्य चिन्तनीय है। कुल सिद्धान्त की परा अथवा कौलिकी शक्ति को काव्यगत प्रतिभा-सिद्धान्त का मूल स्रोत सिद्ध करने के लिये उन्होंने पुष्कल प्रमाण प्रस्तुत नहीं किये है। डा. पाण्डेय ने परा शक्ति की धारणा को काव्यगत प्रतिभाविषयक सिद्धान्त का मूल स्रोत

41. महार्थमंजरी 105

42. ए हिस्टारिकल् एण्ड फिलासफिकल स्टडी पृष्ठ 678

केवल इस आधार पर सिद्ध किया है कि परा प्रतिभा में सभी पदार्थ अपने अनन्त रूपों के साथ प्रतिबिम्बित होते है; उसी प्रकार काव्य प्रतिभा में भी काव्य में व्यक्त होने वाले सभी तत्त्व प्रतिष्ठित रहते है। वस्तुतः इस आधार पर परा प्रतिभा को काव्य प्रतिभा का मूल स्रोत नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अभिनवगुप्त के कई शताब्दियों पहले प्रतिभा के द्वारा संसार के समस्त पदार्थों का ज्ञान होने अथवा उसमें सब कुछ प्रतिभासित हो जाने की बात पतंजलि ने कही है। तथापि अभिनवगुप्त की परा प्रतिभा सम्बन्धी अवधारणा अत्यंत व्यापक है। उनके अनुसार कहने का आशय यह है कि- **तत्प्रातिभं महाज्ञानं शास्त्राचार्यनपेक्षि यत्।**[43] अर्थात् प्रतिभा में वाणी के पश्यंती आदि सभी रूप आ जाते है। वह संसार के समस्त पदार्थों के अनन्त वैचित्र्य को समेटे हुए है। इस परा शक्ति के विषय में तो यही कहना उचित है कि जो इसमें नहीं है, उसका अस्तित्व कहीं नहीं है। अभिनवगुप्त की दृष्टि में यह सर्वोच्च शक्ति है, क्योंकि किसी अन्य की अपेक्षा के बिना ही यह सम्पूर्ण विश्व को प्रतिबिम्बित करने में समर्थ है। इसीलिये इसे अनुत्तरा भी कहते है।[44] अभिनव के मत में ज्ञान के स्तर पर इसी प्रतिभा को प्रातिभ विज्ञान अथवा प्रातिम ज्ञान कह सकते है। उन्होंने पतंजलि का उल्लेख करते हुए उनके इस मत का समर्थन किया है कि प्रातिभ ज्ञान सम्पन्न व्यक्ति सब कुछ जानने और सब कुछ प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है-

इत्थं प्रातिमविज्ञानं किं किं कस्य न साधयेत्।
यत् प्रतिभाद् वा सर्व चैत्यूचे शेषमहामुनेः॥[45]

यह प्रातिभ ज्ञान महाज्ञान है। यह किसी शास्त्र या आचार्य की सहायता के बिना स्वतः स्फुरित हो सकता है। अभिनवगुप्त ने प्रातिभ ज्ञान को ज्ञान के अन्य सभी रूपों से परे बताया है। उनके अनुसार-

उपायोत्र विवेकैकः स हि हेयं विहापयन्।
ददात्यस्य सुश्रोणि प्रातिभं ज्ञानमुत्तमम्॥[46]

---

43. तंत्रालोक 13/80
44. वही 13/120-121 पर टीका
45. वही 13/95
46. वही 13/105

अर्थात् कहने का आशय यह है कि प्रतिभा या प्रातिभ ज्ञान को बुद्धि से सर्वथा भिन्न माना जाना चाहिये। बुद्धि जड़ होती है, ओर विषय ग्रहण के लिये वह इन्द्रियों पर निर्भर रहती है, जब कि प्रातिभ ज्ञान अतीन्द्रिय होता है। बुद्धि की अपेक्षा प्रतिभा विवेक से अधिक सम्बन्धित है, क्योंकि विवेक प्रातिभ ज्ञान को जाग्रत करता है। इस प्रातिम ज्ञान से युक्त व्यक्ति शुद्धविद्या अथवा सद्विद्या को प्राप्त करता है। यह शैव दर्शन में साधक के लिये अत्यंत उदात्त भूमिका मानी गयी है। यह प्रतिभा समस्त चराचर जगत् में व्याप्त है, तथा समस्त कार्यकलापों का मूल है। बुद्धि या विचार की शक्ति न होने पर भी मनुष्येतर प्राणियों में इस प्रतिमा के कारण ही हानोपादान की सामर्थ्य होती है-**यन्मूलं शासनं तेन न रिक्तः कोपि जन्तुकः। व्युत्पेतिर्हि प्रतिमात्मकमेव वस्तु मूलम्। न च तेन प्रतिमात्मना वस्तुना तिर्गक्प्रायोपि कश्ज्जिन्तुः स्वोचितव्यापार नैपुण्यान्यानुपपत्या रिक्तः। अत एव व्यवहाराः प्रतीयन्ते तिरश्चामपि यद्वशात् इत्युक्तम्॥**[47]

पतंजलि से ही प्रतिभा की धारणा लेकर भी अभिनवगुप्त ने उसे शैवदर्शन क अद्वैतवादी भूमिका पर प्रतिष्ठित किया है। अतः योग दर्शन की प्रतिभा तथा शैव दर्शन की प्रतिभा में पर्याप्त साम्य के साथ हम सूक्ष्म अन्तर भी देख सकते है। पतंजलि के मत में प्रातिभ ज्ञान विवेक व ज्ञान का उसी प्रकार पूर्व रूप है, जिस प्रकार सूर्योदय के पूर्व की प्रभा सूर्य की-**'प्रातिभं नाम तारकं, तद्विवेकजस्य ज्ञानस्य पूर्वरूपं, यथोदये प्रतिभा भास्करस्य, तेन वा सर्वमेव योगी जानाति, प्रातिभस्य ज्ञानस्योत्पतौ'**[48] अभिनव का मत इसके विपरीत है। वे विवेक को प्रतिभा की उत्पत्ति में श्रेष्ठ उपाय मानते है, अतः विवेक उनकी दृष्टि में प्रातिभ ज्ञान के पूर्व आता है- **'उपायो देव देवेशि विवेकस्तत्र वै परः। हेयतां चैव संसारे ज्ञात्वा जन्तुर्विमोचयेत्॥ अनित्येस्मिन् शिवोह्येकः शिवः सर्वगत प्रभुः। ददात्यस्य च सुश्रोणि प्रातिभं ज्ञानमुत्तमम्॥'**[49] अभिनव ने

47. तंत्रालोक 13/89
48. पातंजल योगसूत्र
49. तंत्रालोक 13/106

दार्शनिक दृष्टि से प्रतिभा की जो विशेषताएँ बताई है, उनको उन्होंने काव्य प्रतिभा के विवेचन में समाहित किया है। अभिनव ने प्रतिभा की दार्शनिक अवधारणा का पूर्ण उपयोग काव्यप्रतिभा का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए किस प्रकार किया, इसका उदाहरण हम उनकी **'घटकर्पुरकुलकविवृत्ति'** में पाते है। जहाँ उन्होंने इस स्वातन्त्रय रूप प्रतिभा को ही समग्र काव्यसौष्ठव का मूल कारण माना है।

न वै दोषा दोषा न च खलु गुणा एव च गुणाः
निबद्धुः स्वातन्त्र्यं सपदि गुणदोषान् विभजते।
इयं सा वैदग्धी प्रकृतिमधुरा तन्य सुकवे-
र्यदत्रोत्पादादप्यतिसुभगभावः परिणतः॥[50]

इस प्रतिभा के कारण ही दोष सदैव दोष नही रहते, और गुण सदा गुण ही होते हो-ऐसा भी नहीं है। रचनाकार का स्वातन्त्रय (प्रतिभा) तुरन्त गुणों और दोषों का विभाजन कर लेता है। काव्य के क्षेत्र में कवि की विदग्धतारूपी इस प्रकृति-मधुर प्रतिभा के कारण ही काव्यनिर्माण के नियमों का उल्लघंन भी रमणीय बन जाता है।

अभिनव ने इसमें प्रतिभा को दर्शन के क्षेत्र में परा, स्वातंत्र्य शक्ति, विमर्श, प्रत्यमर्श, स्फुरता तथा महासत्ता भी कहा है।[51] वस्तुतः शैव दर्शन में शक्ति के बिना शिव की कल्पना हो ही नहीं सकती, अतः शक्ति भावरूप और सत् है। यहाँ पर आकर शैव दर्शन की शक्ति और वेदान्त की माया में तात्विक अन्तर स्पष्ट हो जाता है। वेदान्त में माया को सत् और असत् दोनों से अनिवर्चनीय माना गया है तथा परब्रह्म उससे सर्वथा अस्पष्ट है। इसके विपरीत, शैव दर्शन की शक्ति शिव के साथ रहती है और विश्व का सृजन करती है।

इस प्रकार निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि शैव दर्शन का प्रतिभा-विवेचन काव्यप्रतिभा की धारणा को स्पष्ट रूप से सामने रखने में सर्वाधिक सफल हुआ

---

50. प्रख्या द्वितीय स्पंद पृष्ठ 58
51. इंडियन एस्थेटिक्स पृष्ठ 93

है तथा प्रतिभा की आध्यात्मिक अवधारणा अन्यान्य दर्शन-प्रस्थानों में शैव दर्शन के पूर्व उपलब्ध होने पर भी, शैव दर्शन के आचार्यों सोमानन्द, उत्पलदेव और अभिनव ने ही पहली बार अध्यात्मिक के क्षेत्र में प्रतिपादित प्रतिभा तथा काव्यप्रतिभा के अनिवार्य अन्तः सम्बन्ध की व्याख्या प्रस्तुत की। शैव दर्शन के अनुसार काव्यप्रतिभा भी उसी परा शक्ति का एक रूप है, जो इस विश्व का सर्जन करती है। यह स्वातन्त्र्य रूप चिति पराशक्ति जिस प्रकार शिव के अधिष्ठान में जगत् का सर्जन करती है, उसी प्रकार काव्यप्रतिभा के रूप में वही कवि के अधिष्ठान में काव्य का सर्जन करती है।[52] यह प्रतिभा आनन्दरूप है, तथा सर्जना के समय स्रष्टा के भीतर उच्छलित होकर केवल अपने ही सामर्थ्य से सृजन करती है। इसीलिये अभिनवगुप्त के शिष्य क्षेमराज ने उत्पलदेव की स्तोत्रावली की व्याख्या में कहा है-**आनन्दोच्छलिता शक्तिः सृजत्यात्मानमामना।**[53] वस्तुतः शैवदर्शन परमशिव को वेदान्त के ब्रह्म के समान निर्गुण निराकार रूप में नही देखता, अपितु वह उसको एक कलाकार के रूप में देखता है, जो अपनी शक्ति से इस विचित्र सौन्दर्यमय जगत् का सृजन करता है। जिस प्रकार दर्पण में पड़ने वाले प्रतिबिम्ब में नगर, ग्राम आदि सभी कुछ अविभक्त रूप में रहते हुए भी एक दूसरे से तथा स्वयं दर्पण से भी विभक्त रूप में भासित होते है, तथापि वह अपनी शक्ति के द्वारा उसे परस्पर विभक्त रूप में प्रतीत कराता है। इसी बात को अभिनव ने परमार्थसार में कहा है-

दर्पणबिम्बे यद्वन्नगरग्रामादिचित्रमविभागि।
भाति विभागे नैव च परस्परं दर्पणादपि च॥
विमलतमपरमभैरवबोधात् तद्वद् विभागशून्यापि।
अन्योयं च ततोपि च विभक्तमायाति जगदेतत्॥[54]

इस प्रकार यह जगत् चैतन्यरूप परमशिव के भीतर स्थित है, वह अपनी इच्छाशक्ति से उसे बाहर प्रकाशित करता हैं-**'चिदात्मेव हि देवोक्तः**

52. प्रत्यभिज्ञाहृदय-1
53. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा
54. परमार्थसार 12/13

स्थितमिच्छावशाद् बहिः। योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत्।[55] प्रतिभा अथवा शक्ति परम शिव के साथ सहज रूप में रहती है। किन्तु मनुष्य इसे अनन्त जन्मों के संस्कारों से अर्जित करता है–'**प्रतिभाविशेषोनन्तजन्माभ्यासमूलः**'[56] इस प्रकार हम देखते हैं कि शैव दर्शन के प्रतिभा सम्बन्धी सिद्धान्त के आधार पर ही काव्यप्रतिभा की सुसंगत व्याख्या संभव हो सकी है। इस दर्शन ने पहली बार वह श्रृंखला प्रस्तुत की, जो काव्यप्रतिभा सम्बन्धी सिद्धान्त के आधार पर ही काव्यप्रतिभा की सुसंगत व्याख्या संभव हो सकी है। इस दर्शन ने पहली बार वह श्रृंखला प्रस्तुत की, जो काव्यप्रतिभा को अध्यात्म प्रतिभा से जोड़ती है। दोनों प्रतिमाएँ वस्तुतः एक है। इसीलिए आगे चलकर शैवदर्शन के अनुयायी एक कवि ने शिव को एक ऐसा कलाकार बताया, जो अपनी अद्‌भुत प्रतिभा के कारण बिना किसी उपादान के, तथा बिना किसी भित्ति या आधार के जगत् रूपी चित्र का निर्माण करता है–

निरुपादानसम्भारमभित्तावेव तन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाध्याय शूलिने।।[57]

मम्मट ने इस पद्य को अपने काव्यप्रकाश में भी व्यतिरेक के उदाहरण के रूप में उद्‌धृत किया है।

3.6 शाक्तदर्शन में प्रतिभा

शैव और शाक्त दोनों दर्शनों की सैद्धान्तिक रूपरेखा समान है, अतः प्रतिभा का विवेचन शाक्त दर्शन में भी लगभग शैव दर्शन की ही तरह मिलता हैं। शाक्त दर्शन का प्रामाणिक विवेचन '**हारितायन**' मुनि द्वारा विरचित '**त्रिपुरारहस्य**' के ज्ञानखण्ड में उपलब्ध होता है। शैव दर्शन के ही समान शाक्त दर्शन भी शिव और शक्ति दोनों से इस जगत् के उद्‌भव को स्वीकार करता है। इस शक्ति को त्रिपुरारहस्य में परचिन्मयी, दर्पणरूपिणी अर्थात् जगत् रूपी चित्र को प्रतिबिम्बित

---

55. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा पृष्ठ 185
56. वही पृष्ठ 197
57. काव्यप्रकाश चतुर्थ उल्लास

करने वाले दर्पण के समान सर्वहृदयाकाशरूपिणी तथा हृदयान्तः परिणता कहा है।[58] इस प्रकार यह शक्ति शैव दर्शन की परा प्रतिभा के समान अपने आप को विभिन्न रूपों में प्रकट करके इस जगत् की सृष्टि करती है। यही शक्ति हृदय और अन्तः करण के रूप में भी आर्विभूत होती है। शैव दर्शन की यह मान्यता है कि शक्ति या परा प्रतिभा उस दर्पण के समान है, जिसमें सम्पूर्ण जगत् विभिन्न रूपों में भासित होता है। शाक्त दर्शन में भी दर्पण की इस उपमानता को स्वीकार करके कहा गया है-

चितिरेव महासत्ता साम्राज्ञी परमेश्वरी।
त्रिपुरा भास्यते यस्यामाविभिन्ना विभिन्नवत्॥
आदर्शनगरप्रख्यं जगदेतचराचरम्।
तद्वदेकत्वमापन्नस्तत्र नोत्तमाधमभावना॥[59]

अर्थात् वह चैतन्यरूपिणी महासत्ता की इस जगत् की अधिष्ठात्री और परमेश्वरी है। यह संसार उससे अभिन्न है। फिर भी यह उससे विभिन्न की तरह भासित होता है। यह चराचर जगत् दर्पण में भासित होने वाले नगर के समान है। दर्पणसदृश चैतन्य तो सदा एकरूप रहता है। इसीलिये इस चराचर जगत् के विभिन्न प्राणियों में उसी एक महाशक्ति के अनुस्यूत होने के कारण उनमें उत्तम, मध्यम और अधम आदि का भेदभाव नहीं करना चाहिये।

यह महाशक्ति संसार के सभी प्राणियों के भीतर विद्यमान है, किंतु यह किसी प्रमाण का विषय नहीं बन सकती।[60] शाक्तदर्शन में भी इस चिति शक्ति को स्वातन्त्र्य रूप माना गया है-**यतः सर्वं चितिमनुभाति सा तु स्वतंत्रता।**[61] इसी शक्ति को शाक्त दर्शन में भी शैवदर्शन के ही समान संवित् भी कहा गया है।[62] यह संवित् सर्वसाक्षिणी रहकर क्रीडा के रूप में इस जगत् की सृष्टि करती

58. त्रिपुरारहस्य 9/9
59. वही 2/32-33
60. वही 9/9
61. वही 10/65
62. वही 14/78

है- **'क्रीड़ा करोति सृष्ट्या दिक्क्रमेण सर्वसाक्षिणी।'**[63] इस सृष्टि की क्रीड़ा में यह चिति अथवा महाशक्ति सर्वथा स्वतंत्र है। वह बिना किसी उपादान (साधन) के ही अपनी स्वरूपभूत भित्ति अथवा चित्रफलक पर विभिन्न रूपों वाले इस जगत् को भावित करती है।

इस महाशक्ति के साक्षात्कार के लिये शाक्तदर्शन में दृक् या दृष्टि जैसे शब्दों का प्रयोग किया गया है, जो उपनिषदों के दर्शन, ईक्षणा, चक्षु आदि से सादृश्य रखता है। वास्तव में जीव का स्वरूप ही यह दृक् अथवा दृष्टि है।[64] इसके साथ ही परा प्रतिभा को शाक्त दर्शन चिति या शक्ति का ऐसा परम रूप मानता है, जिसके स्फुरित न होने पर कुछ भी आभासित नहीं हो सकता। यह प्रतिभा इन्द्रियों, अन्तःकरण आदि सबका आन्तरिक प्राणसूत्र है-

अक्षान्तःकरणदीनां प्राणसूत्रं यदन्तरम्।
यदभाननेन किंचित् स्याद्यच्छास्त्रैरभिलक्षितम्।।
परा सा प्रतिभा देव्याः परं रूपं मयेरितम्।[65]

इस परा प्रतिभा में स्वातन्त्र्य के कारण सिसृक्षा उत्पन्न होती है।[66]

यह चिति शक्ति आकाश से भी अधिक व्यापक और परमाणु से भी अधिक सूक्ष्म है। (जड़ता या अविद्या) से आवृत होने पर यही चिति बन जाती है।[67]

3.8 व्याकरण-दर्शन में प्रतिभा

भारतीय दर्शन के क्षेत्र में व्याकरण का महत्वपूर्ण स्थान है। दार्शनिक चिन्तन को पाणिनि, पतंजलि, भर्तृहरि, कैयट, नागेश भट्ट आदि विद्वानों (वैयाकरणों) ने नई दिशा दी थी। इसीलिये व्याकरण को दर्शन के अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रस्थान के रूप में प्राचीन काल से ही मान्यता मिली। माधवाचार्य ने अपने **'सर्वदर्शनसंग्रह'** में **'पाणिनी-दर्शन'** पर भी एक प्रकरण रखा है।

---

63. त्रिपुरारहस्य15/5-6
64. वही 18/14
65. वही 20/36
66. वही 22/67/74
67. वही 21/81, 87

संस्कृत वैयाकरणों में प्रतिभा सम्बन्धी विवेचन के लिये भर्तृहरि के योगदान को भुलाया नहीं जा सकता। इसमें कोई सन्देह नहीं कि **नवीं** शती में **भर्तृहरि** ने अपने व्याकरण-दर्शन के अप्रतिम ग्रंथ **'वाक्यपदीयम्'** में प्रतिभा का जो तलावगाही तथा मौलिक विवेचन प्रस्तुत किया, उसी के प्रभाव से शैव तथा अन्य दर्शनों में प्रतिभा-सिद्धान्त का विशेष पल्लवन हुआ। भर्तृहरि से प्रभावित होकर सोमानन्द ने अपनी **'शिवदृष्टि'** में परा-प्रतिभा की कल्पना प्रस्तुत की, जिसके आधार पर आगे चलकर अभिनवगुप्त ने दर्शन और काव्यशास्त्र में प्रतिभा की स्थापना की।[68]

भर्तृहरि के मत में प्रतिभा एक ऐसी शक्ति है, जिससे सब कुछ उत्पन्न होता है।[69] स्फोट इसी प्रतिभा का एक रूप है। स्फोट मनुष्य की बुद्धि में रहने वाला वह तत्व है, जिससे अर्थ की प्रतीति होती है। यह प्रतीत होने वाला अर्थ ही प्रतिभा है। भर्तृहरि का कहना है कि पदार्थों (पदों के अर्थों) से उपपादित होने वाला वाक्यार्थ ही प्रतिभा है-

विच्छेदग्रहणेर्थानां प्रतिभान्येव जायते।
वाक्यार्थ इति तामहुः पदार्थैरुपपादिताम्।।[70]

इस प्रतिभा का स्वरूप इदमित्थम् रूप में नहीं बताया जा सकता। उसके साथ तादात्म्य होने पर उसका अनुभव किया जा सकता है।

इदं तदिति सान्येषामनाख्येया कथंचन।
प्रत्यात्मवृति सिद्धा सा कर्त्रापि न निरूप्यते।।[71]

भर्तृहरि व्याकरण की इस मान्यता के समर्थक है क्योंकि उन्होंने कहा है कि-**इह द्वौ शब्दात्मानौ- नित्यः कार्यश्च। नित्यस्तु सर्वव्यवहारयोनिः,**

---

68. अभिनवगुप्त पृष्ठ 592
आस्पेक्ट्स आफ इंडियन थाट पृष्ठ 13
वाक्यपदीयम् चौखम्भा संस्करण पृष्ठ 18
69. वाक्यपदीय 1/4
70. वही 2/5
71. वही चौखम्भा संस्करण पृष्ठ 18

संहतक्रमः सर्वेषामन्तसन्निवेशी प्रभवो विकाराणां, आश्रयः कर्माणाम्। अधिष्ठानं सुखदुःखयोः'[72] अर्थात् शब्द ही ब्रह्म है। शब्द दो प्रकार का है–नित्य और अनित्य। नित्य शब्द सृष्टि के समस्त व्यवहारों का जनक है। यह सब के भीतर सन्निविष्ट है, कर्मो का आश्रय है तथा सुख और दुख का अधिष्ठान है। भर्तृहरि का यह मत पतंजलि पर आधृत है। पतंजलि ने कहा है कि–'**द्वौ शब्दात्मानो नित्यः कार्यश्च।**'[73] यह शब्द अजन्मा तथा अनादि है। अर्थ इसी विकार है, इसी से जगत् की सृष्टि होती है–

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥[74]

यही शब्द ब्रह्म प्रतिभा है। पुण्यराज ने वाक्यपदीयम् की टीका में इसे '**भगवती विधा विशुद्धप्रज्ञा प्रतिभाख्या**'[75] अर्थात् इसे विशुद्धप्रज्ञा कहा है। यही प्रतिभा पश्यन्ती वाक् भी है–'**पश्यन्त्याख्या प्रतिभा**'।[76]

यह प्रतिभा अनपायिनी, अविभागा और अक्रमा है। इसका स्वरूप ज्योतिर्मय है। सदैव आगन्तुक मतों से संकीर्ण की जाती हुई भी यह सोम की अन्तिम कला के समान कदापि अभिभूत नही होती। उसका साक्षात्कार कर लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है, और जानने या करने के लिये कुछ भी शेष नहीं रह जाता–

अविभागा तु पश्यन्ती सर्वतः संहृतक्रमा।
स्वरूपज्योतिरेवान्तः सैषा वागनपायिनी।
सैषा संकीर्यमाणापि नित्यमागन्तुकैर्मलैः।
अन्त्या कलेव सोमस्य नात्यन्तमभिभूयते।
तस्यां दृष्टस्वरूपायांमधिकारो निवर्तते।
पुरुषे षोडशकले तामाहुरमृतां कलाम्॥[77]

---

72. वाक्यपदीय 1/31 भर्तृहरि की टीका।
73. महाभाष्य पृष्ठ 24
74. वाक्यपदीय 1/1
75. वही 1/14
76. वही 1/14
77. वही 1/145 पर टीका में पुण्यराज द्वारा उद्‌धृत

इस प्रतिभा की कल्पना भर्तृहरि तथा उनके अनुयायियों ने तीन रूपों में की है–

(1) **परिच्छिन्नार्थप्रत्यवभासा**– अर्थात् अपने से अवच्छिन्न पदार्थों को भासित करने वाली।

(2) **संश्लिष्टार्थप्रत्यवभासा**– अपने से संसृष्ट या सम्बन्धित पदार्थों को प्रकाशित करने वाली।

(3) **प्रशान्तसर्वार्थप्रत्यवभासा**– अपने स्वरूप में विश्रान्त तथा समस्त पदार्थों को प्रकाशित करने वाली।

वस्तुतः प्रतिभा के अनन्त रूप हो सकते है। यही प्रतिभा अथवा पश्यन्ती वाक् वास्तव में वेद है, जिसका साक्षात्कार ऋषियों ने किया है–

यथा द्रव्यविशेषाणां परिपाकैरयत्नजाः।
मदा दिशक्तयो द्रष्टाः प्रतिभास्तद्वतां तथा।।[78]

वाक्यपदीयम् के टीकाकार हेलाराज के अनुसार इस प्रतिभा का साक्षात्कार करने पर मनुष्य के भीतर अभूतपूर्व आनन्द और प्रकाश का उद्वेग होता है, जो परम तृप्ति प्रदान करता है, यह तृप्ति सांसारिक विषयों के आस्वाद से भिन्न तथा शाश्वत है। प्रतिभा का प्रकाश निरन्तर अभिनव रूप में आभासित होता है–

यस्मिन् सन्मुखतां प्रयाति रुचिरं कोप्यन्तरुज्जृम्मते
नेदीयं महिमा मनस्यभिनवः पुंसां प्रकाशात्मनः।
तृप्तिं यत्परमां तनोति विषयास्वादं विना शाश्वतीं
धामानन्दसुधामयोर्जितवपुस्तत् प्रातिभं संस्तुमः।।[79]

परा वाक् और प्रतिभा एक ही शब्द ब्रह्म के दो रूप है। इसके साथ ही प्रतिभा का व्याकरण-दर्शन में दूसरा अर्थ भी है। यह अर्थ आधुनिक मनोविज्ञान में जिसे 'इंस्किट' कहा गया है, उसके अत्यधिक निकट है। किसी सुखदायक पदार्थ की ओर अनजाने ही हमारी प्रवृत्ति होती है तथा दुःखदायक पदार्थ से

78. वाक्यपदीय 1/145 टीका द्रष्टव्य

79. आस्पेक्ट्स आफ इंडियन थाट पृष्ठ 17

स्वतः निवृत्ति होती है। प्रतिभा इस प्रवृत्ति-निवृत्ति की जनक है, इसलिये वह संसार के समस्त व्यवहारों का मूल है। अपने इस रूप में वह संसार के समस्त प्राणियों के भीतर रहती है, तथा अयत्नजा है-

उपश्लेषमिवार्थानां सा करोत्यविचारिता।
सार्वरूप्यमिवापन्ना विषयत्वेन वर्तते।।
साक्षात् शब्देन जनितां भावनानुगमेन वा।
इतिकर्तव्यतायां तां न कश्चिदतिवर्तते।
प्रमाणत्वेन ता लोकः सर्वः समनुपश्यति।
समारम्भाः प्रतीयन्ते तिरश्चामपि यद्वशात्।।[80]

भर्तृहरि के अनुसार प्रतिभा ही वह शक्ति है, जिसके कारण वसन्त ऋतु में पुंस्कोकित गान करता है तथा विभिन्न जन्तुओं में आहार, प्रीति, द्वेष प्लवन (तैरना), घौसला बनाना, उड़ना आदि क्रियाएँ स्वतः होती है-

स्वरवृतिं विकुरुते मधौ पुंस्कोकिलस्य कः।
जन्त्वादयः कुलायादिकरणे केन शिक्षिताः।।
आहारप्रीत्यभिद्वेषप्लवनादिक्रियासु कः।
जात्यन्वयप्रसिद्धासु प्रयोक्तामृगपक्षिणाम्।।[81]

यद्यपि यह प्रतिभा अयत्नज तथा स्वतः सिद्ध रूप में प्राणियों के भीतर रहती है तथापि पूर्वजन्म के संस्कारों, वासनाओं तथा प्रारब्ध कर्मो के द्वारा इसे विशेष रूप मिलता है।

मीमांसक मण्डन मिश्र ने अपने विधिविवेक में व्याकरण के उक्त मत का घोर विरोध किया है। मण्डन मिश्र के अनुसार उपाय ज्ञान ही मनुष्यों में समस्त कार्यव्यवहार का प्रवर्तक है, प्रतिभा नहीं- **प्रतिभामिति, येयं समस्तशब्दार्थकारणभूता बुद्धिः या पश्यन्तीत्याहुः यतः शब्दाः प्राणवृत्तिमनुपयान्ति।**[82] उनके मत की समीक्षा में वैयाकरण कहता है- **मध्यमा**

---

80. वाक्यपदीय 2/145, 146, 147
81. वही 2/149-150
82. इंडियन थ्योरीज आफ मीनिंग पृष्ठ 147

त्वन्तः सन्निवेशिणी परिग्रहीतक्रमेव बुद्धिमात्रोपादाना सूक्ष्माप्राणवृत्यनुगता।[83] अर्थात् उपाय ज्ञान का सिद्धान्त सभी स्थितियों में लागू नहीं होता, क्योंकि कभी कभी किसी प्रयोजन की सिद्धि का उपाय विज्ञजनों को भी ज्ञात नहीं होता। फिर भी उस प्रयोजन की सिद्धि देखी जाती है। इसके साथ ही पशु पक्षियों में उपाय ज्ञान के विवेक के बिना ही प्रवृत्ति देखी जाती है।

यद्यपि परमार्थतः यह प्रतिभा निरवयव तथा अविभाज्य है, तथापि व्यावहारिक दृष्टि से भर्तृहरि ने इसके 6 प्रकार बतायें है–

स्वभावाचरणाभ्यासयोगादृष्टोपपादिता।
विशिष्टोपहितां चेति प्रतिभां षड्विधां विदुः।।[84]

1. **स्वभाव जन्य**–जिस प्रकार बन्दर आदि में जन्म सिद्ध से कूदने की शक्ति।
2. **अभ्यास जन्य**–विशिष्ट विषय में निरन्तर अभ्यास से उत्पन्न।
3. **आचरण जन्य**–चरण का अर्थ है सदाचार या तपः साधना आदि से उत्पन्न आदि।
4. **योग जन्य**–यौगिक साधनाओं से ऋषि-मुनियों को प्राप्त।
5. **अदृष्ट जन्य**–पूर्व संस्कारों से प्राप्य।
6. **विशेष जन्य**–विशेष व्यक्तियों या परिस्थियों द्वारा उदबोधित।

भर्तृहरि तथा उनके अनुयायियों की दृष्टि में वाक्, शब्द, प्रतिभा तथा पश्यन्ती एक ही तत्व के नामान्तर है। शब्द, अर्थ एक ही प्रतिभा के भेद हैं, जो तात्त्विक दृष्टि से अभिन्न है-**एकस्येवात्मनो भेदो शब्दार्थावपृथक् स्थितौ।**[85] ऋषभदेव ने वाक्यपदीय की टीका में कहा है-प्रतिभा समस्त शब्दार्थसमुदाय की कारणभूता बुद्धि है इसी को पश्यन्ती वाक् भी कहते है। इसी से शब्द प्राणवृत्ति को प्राप्त करते है। सोमानन्द ने अपनी शिवदृष्टि में भर्तृहरि के मत को उद्धृत करते हुए उचित ही कहा है–

---

83. इंडियन थ्योरीज ऑफ मीनिंग पृष्ठ 148
84. वाक्यपदीय 2/152
85. वही 2/31

इत्याहुस्ते परं ब्रह्म यदनादि तथाक्षरम्।
तदक्षरं शब्दरूपं सा पश्यन्ती परा हि वाक्।।[86]

यह प्रतिभा अनादि तथा अक्षर परब्रह्म है। यही शब्द रूप है और यही पश्यन्ती परा है- पश्यन्ती, मध्यमा और बेखरी। जैसा कि कहा जा चुका है–पश्यन्ती ही आत्मतत्व, शब्दब्रह्म या प्रतिभा है। इस अवस्था में शब्द और अर्थ परस्पर अभिन्न रहते है। मध्यमा वाक् बुद्धि से ग्राह्य होती है, तथा इसमें ध्वनि का क्रम पहचाना जा सकता है। वाणी की अन्तिम अवस्था वेखरी है, जिसमें ध्वनियाँ उच्चार्यमाण तथा श्रूयमाण होती हैं।

3.8.1 शैवमत और भर्तृहरि के मत की तुलना

शैव दर्शन के शब्दब्रह्म का रूप भर्तृहरि के अनुसार ही प्रतिपादित किया गया है। किन्तु भर्तृहरि ने शब्दब्रह्म की उपर्युक्त तीन ही अवस्थाएँ स्वीकार की थी। शैव दर्शन की प्रत्यभिज्ञा शाखा में तीन के अतिरिक्त परा नामक चौथी अवस्था भी स्वीकार की गयी। भर्तृहरि के मत में परा और पश्यन्ती में कोई भेद नहीं है। वे पश्यन्ती के परे शब्दब्रह्म की कोई अवस्था नहीं मानते। शैव दार्शनिकों ने परा वाक् को पश्यन्ती के भी परे स्वीकार किया। वैयाकरण मत में शब्दब्रह्म ही परब्रह्म है तथा यही प्रतिभा है। शैव दर्शन में परा वाक् या परा प्रतिभा को परमशिव की शक्ति माना गया है। इस प्रकार वहाँ परम शिव परब्रह्म के समकक्ष है और प्रतिभा उसकी शक्ति है। वैयाकरण मत में भी प्रतिभा शब्दब्रह्म या परब्रह्म की शक्ति होकर भी उसी का रूप है-

शब्देवैवाश्रिता शक्ति र्विश्वस्यास्य निबन्धिनी।
यन्नेत्रः प्रतिभात्यार्थभेदरूपः प्रतीयते।।[87]

महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज ने इन दोनों दर्शनों के प्रतिभा विचार की तुलना करते हुए इनमें सूक्ष्म अन्तर का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि व्याकरण दर्शन में शब्दब्रह्म तथा प्रतिभा अभिन्न है। और प्रतिभा अपने आप में पूर्ण तथा

86. शिवदृष्टि 2/2
87. वाक्यपदीय 1/118

स्वतन्त्र मानी गयी है, जब कि शैव दर्शन परा प्रतिभा को परम शिव की शक्ति के रूप में स्वीकार करता है। वस्तुतः इस आधार पर इन दोनों दर्शनों मे अन्तर करन उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि जैसा हम ने ऊपर कहा है, शैव दर्शन में परा प्रतिभा को परम शिव की शक्ति मान कर भी **'शक्तिशक्तिमतोरभेदः'** का सिद्धान्त स्वीकार किया गया है। साथ ही यह ध्यान में रखने की बात है कि भर्तृहरि का व्याकरण दर्शन भी प्रतिभा को शब्द की शक्ति के रूप में देखता है, जिसकी पुष्टि भर्तृहरि के **'शब्देष्वेवाश्रिता शक्तिः'** तथा **'शब्दानामेव सा शक्तिः'** इत्यादि कथनों से होती है।

3.9 बौद्ध दर्शन में प्रतिभा

बौद्ध दर्शन के त्रिपिटक तथा अन्य ग्रंथों में प्रतिभा शब्द का प्रयोग नही मिलता किंतु प्रतिभा सबंधी अवधारणा को प्रकट करने के लिये विसुद्धिमग्ग, महावग्ग, दीघनिकाय, मज्झिमनिकाय तथा अन्य त्रिपिटक ग्रंथों में पञ्ञा (प्रज्ञा) का अनेक प्रसंगों में अनेकत्र उपयोग किया गया है। प्रतिभा के समकक्ष पञ्ञा या प्रज्ञा का सुस्पष्ट लक्षण विसुद्धिमग्ग में इस प्रकार किया गया है-**कुसलचितसम्पयुक्तं विपस्सना आणं पञ्ञा।**[88] अर्थात् कुशल चित के द्वारा सम्प्रयुक्त विपश्यना या विवेक सम्पन्न ज्ञान ही प्रज्ञा है। इस लक्षण के सन्दर्भ में विसुद्धिमग्ग में कहा गया है कि प्रज्ञा नाना रूपों वाली है और उसके सभी रूपों की व्याख्या करने में इच्छित अर्थ की सिद्धि नहीं होती अतः इच्छित अर्थ की सिद्धि के लिये यही लक्षण उपयुक्त है। प्रज्ञा के स्वरूप को भी स्पष्ट करते हुए इस ग्रंथ में आगे कहा गया है- यह प्रज्ञा सम्यक् ज्ञान के अर्थ में हुआ करती है। किसी वस्तु को जानने के लिये उसके विशिष्ट आकार को नाना प्रकार से जानना सम्यक् ज्ञान है। प्रज्ञा से होने वाला सम्यक् ज्ञान के अन्य रूपों-संज्ञा विज्ञान आदि से भिन्न है। संज्ञा में तो किसी वस्तु के सम्बन्ध में यह नीली अथवा पीली है-- ऐसा ही ज्ञान होता है, विज्ञान में नीली या पीली- इस स्वरूप के ज्ञान के साथ यह अनित्य, दुःख और अनात्म है-- इस प्रकार का उसका लक्षण भी ज्ञात होता है। किन्तु विज्ञान उस अनियत्व और अनात्मत्व से मुक्त होने का मार्ग

88. विसुद्धिमग्ग 14/2

नहीं बताता। प्रज्ञा वस्तु के स्वरूप को भी जानती है, उसके लक्षण को भी तथा प्रयत्न करके निर्वाण के मार्ग को भी प्रशस्त करती है।

विसुद्धिमग्ग के उपरोक्त विवेचन की तुलना पतंजलि के प्रज्ञा-विचार से की जा सकती है। पतंजलि ने भी ऋतंभरा प्रज्ञा को ज्ञान के अन्य सभी रूपों से भिन्न माना है। इसके साथ ही साथ जिस प्रकार शैव और व्याकरण दर्शन में प्रज्ञा को शब्दों से अनाख्येय तथा अनिर्वचनीय कहा गया है, उसी प्रकार बौद्ध दर्शन भी प्रज्ञा के स्वरूप को अनाख्येय मानता है-जिस चित में संज्ञा, विज्ञान आदि होते है, वहाँ प्रज्ञा बिल्कुल नहीं होती है, किन्तु जब होती है, तब उन विभिन्न धर्मों से मिली हुई होती है। यह संज्ञा है, यह विज्ञान है, यह प्रज्ञा है इस प्रकार अलग अलग करके नहीं देखी जा सकती, अतः यह प्रज्ञा सूक्ष्म और दृश्य होती है।

प्रज्ञा की उपलब्धि के लिये योग दर्शन के ही समान बौद्ध दर्शन भी चित की एकाग्रता अथवा समाधि को आवश्यक मानता है। 'बोधिचर्यावतारपंचिका' में कहा गया है-**'शमथपरिशोधितचितसन्ताने प्रज्ञायाः प्रादुर्भावात्, सुप्रशोधितक्षेत्रे शस्यनिष्पतित्वात्'**[89] अर्थात् जब चित समाधि के द्वारा शुद्ध हो जाता है, तो उसमें प्रज्ञा का उसी प्रकार प्रादुर्भाव होता है, जिस प्रकार भलीभाँति परिशोधित खेत में फसल की उत्पत्ति होती है। समाधि या एकाग्रता के अभाव में प्रज्ञा नहीं हो सकती।[90] विसुद्धिमग्ग में समाधि को प्रज्ञा का पदस्थान कहा गया है।[91]

पतंजलि के ही समान बौद्ध आगम भी प्रज्ञा की उपलब्धि के लिये सवितर्क, सविचार, विवेकज आदि ध्यानों का निर्देश करते हैं।[92] बोधिचर्यावतारपंजिका में प्रज्ञा को एकाग्र चित्त में उत्पन्न होने वाली तथा वस्तुओं का यथातथ्य रूप में ज्ञान कराने वाली कहा गया है-**यथावस्थितप्रतीत्यसमुत्पन्नवस्तुतत्त्व-**

89. बोधिचर्यावतारपंचिका पृष्ठ 58
90. अगुंत्तरनिकाय पृष्ठ 10/1/1
91. विशुद्धिमार्ग पृष्ठ 56
92. दीघनिकाय पृष्ठ 62

परिचयलक्षणा प्रज्ञा।[93] इस प्रज्ञा का निरूपण बौद्ध आगमों में अनेक रूपों में मिलता है। विसुद्धिमग्ग में प्रज्ञा को लौकिक और लोकोत्तर, साश्रव और अनाश्रव, चिन्तामय और श्रुतमय आदि अनेक रूपों में निरूपित किया गया है।[94] प्रज्ञा को चक्षु अथवा साधक की एक विशिष्ट दृष्टि के अर्थ में भी बताया गया है। बौद्ध आगमों में प्रमुख रूप से चार चक्षु बताये गये हैं- धर्मचक्षु, दिव्यचक्षु, प्रज्ञाचक्षु तथा बुद्धचक्षु। इनमें से दिव्यचक्षु के द्वारा साधक सामान्य आँखों से न देखी जा सकने वाली वस्तुओं को भी देख सकता है, किन्तु दिव्यचक्षु का विषय वही हो सकता है, प्रज्ञाचक्षु इससे आगे की स्थिति है।[95] प्रज्ञा की उपलब्धि श्रुत, चिन्त और भावना के द्वारा होती है। उपनिषद् तथा दर्शन में इन्हीं को श्रवण, मनन और निदिध्यासन तथा आगम, अनुमान और ध्यानाभास कहा गया है। जिस प्रकार योगदर्शन में ऋतम्भरा तथा आगम, अनुमान और ध्यानाभास कहा गया है। जिस प्रकार योगदर्शन मे ऋतम्भरा अथवा प्रातिभ ज्ञान के द्वारा सर्वज्ञता की प्राप्ति मानी गयी है, उसी प्रकार बौद्धदर्शन में भी श्रुत, चिन्त और भावना आदि से जो प्रज्ञा उपलब्ध होती है, उससे साधक के सर्वज्ञ होने की बात कही गयी है। मिलिन्दपञ्हो तथा महावत्थु आदि ग्रन्थों में बुद्धचक्षु के द्वारा समय और स्थान की सीमा लांघ कर अतीत और अनागत वस्तुओं का साक्षात्कार करने की सामर्थ्य का निरूपण किया गया है।[96]

बौद्ध कवि अश्वघोष ने अपने बुद्धचरित में गौतम बुद्ध के सम्बन्ध में कहा है-

ततस्तेन स दिव्येन परिशुद्धेन चक्षुषा।
ददर्श निखिलं लोकमादर्श इव निर्मले॥[97]

उसके बाद उन महात्मा बुद्ध ने अपने परिशुद्ध दिव्यचक्षु के द्वारा निर्मल दर्पण में पड़े प्रतिबिम्ब के समान समस्त जगत् को देखा।

---

93. आस्पेक्ट्स आफ इंडियन थाट पृष्ठ 33
94. विशुद्धिमार्ग पृष्ठ 56-57
95. आस्पेक्ट्स आफ इंडियन थाट पृष्ठ 33 महावग्गो पृष्ठ 14
96. वही पृष्ठ 36
97. बुद्धचरित्र 14/8

इस प्रकार बौद्ध दर्शन में प्रज्ञा को आत्मसाक्षात्कार के पहले की स्थिति माना गया है। आत्मज्ञान की साधना करने वाले मनुष्य के भीतर पहले चक्षु उत्पन्न होता है, फिर ज्ञान होता है, और फिर प्रज्ञा, उसके अनन्तर प्रज्ञा और फिर आलोक की प्राप्ति होती है-

पुव्वे अननस्तुतेसु धम्मेसु चक्खुं उदपादि, त्रांण उपपादि,
पञ्ञा उदपादि, विञ्ञा उदपादि, आलोको उदपादि।[98]

प्रज्ञा की प्राप्ति के अनन्तर होने वाली इस आलोक की स्थिति को ही अन्यत्र ज्ञानदर्शन कहा गया है। तथागत को सुविशुद्ध ज्ञानदर्शन की प्राप्ति हुई थी।[99] महावग्ग में आत्मज्ञान के चार सोपान बताये हैं- शीलस्कंध, समाधिस्कंध, प्रज्ञास्कंध और विमुक्तिस्कंध।

इस प्रकार योगदर्शन के ही समान यहाँ पर भी समाधि से प्रज्ञा और प्रज्ञा से विमुक्ति-यह क्रम निर्दिष्ट है। बौद्धदर्शन में जिस प्रकार दिव्यचक्षु आदि का प्रतिपादन किया गया है, उसी प्रकार उपनिषदों में भी **'मनोऽस्य देवं चक्षु'** कहकर दिव्यचक्षु की चर्चा की गयी है। अतः बौद्धदर्शन में प्रज्ञा के स्वरूप को हम उपनिषद् तथा योगदर्शन में प्रतिपादित दर्शन तथा प्रतिभा के समकक्ष रखकर देख सकते है।

3.10 जैनदर्शन में प्रतिभा

बौद्धदर्शन के ही समान जैन दर्शन में भी स्वतन्त्र रूप से प्रतिभा शब्द नहीं मिलता किन्तु ज्ञान की जो धारणा जैन दर्शन में प्रस्तुत की गयी है, वह वैदिक दर्शनों के प्रातिभ ज्ञान से भिन्न नहीं है। जिस प्रकार प्रातिभ ज्ञान काल तथा स्थान से निरपेक्ष होता है, अर्थात् वर्तमान के अतिरिक्त भूत और भविष्य में विद्यमान दूरस्थ पदार्थ भी उसमें प्रतिभासित हो उठते हैं, उसी प्रकार जैन दर्शन में भी श्रमण या साधक के होने वाला अतीत और अनागत पदार्थों का साक्षात्कार करा

98. महावग्गो पृष्ठ 13
99. वही पृष्ठ 14

देता है-**अतीतानागतानामर्थाना वर्तमानकालसम्बन्धितया भावेपि अतीतानागतकालसम्बन्धितयाभावात्।**[100]

जैन दर्शन में ज्ञान दो प्रकार का माना गया है--अवधि ज्ञान तथा केवल ज्ञान। अवधि ज्ञान 'निखिल द्रव्य पर्याय' तथा 'साक्षात्कारिस्वरूप' माना गया है, किन्तु उसमें मूर्त द्रव्य का ही साक्षात्कार हो सकता है। अवधि ज्ञान देवताओं में स्वत: सिद्ध हो सकता है और मनुष्य साधना से इसे पाता है।

केवल ज्ञान की उपलब्धि 'अर्हत' को होती है। यह मूर्त और अमूर्त सभी वस्तुओं का साक्षात्कार एक ही समय करा देता है यही प्रज्ञा अथवा प्रतिभा है।

***

100. आस्पेक्ट्स आफ इंडियन थाट पृष्ठ 37

चतुर्थ अध्याय

संस्कृत कवियों एवं काव्यशास्त्रियों की दृष्टि में प्रतिभा

पूर्व के अध्यायों में हम क्रमशः वैदिक साहित्य, इतिहास एवं पुराणों तथा भारतीय दर्शन में उपलब्ध प्रतिभा-सम्बन्धी विवेचन के माध्यम से प्रतिभा की काव्य एवं काव्यशास्त्रीय पृष्ठभूमि का दर्शन प्राप्त कर चुके है। वैदिक वाङ्मय, इतिहास-पुराणों एवं दार्शनिक चिन्तन से समुत्तेजना पाकर काव्य एवं काव्यशास्त्र के क्षेत्र में प्रतिभा-संबंधी चिन्तन भी क्रमशः परिपक्व होता गया।

4.1 संस्कृत कवियों की दृष्टि में प्रतिभा

काव्यजगत् को इस भौतिक जगत् से सर्वथा विलक्षण कहा गया है। इस विलक्षण जगत् का स्रष्टा या प्रजापति 'कवि' है, जिसकी इच्छा एवं रुचि के साथ इस जगत् का संविधान एवं संघटन बदलता है।[1] उस प्रजापति का हृदय जिस भाव की रंगों से रंगा होता है, समस्त काव्य जगत् उसी रंग की आभा से रंग जाता है।[2] कवि भारती नियति के बन्धनों से परे, एक स्वच्छंद एवं आनन्दमयी सृष्टि कही गयी

---

1. अपारे काव्य संसारे कविरेकः प्रजापतिः।
   यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते।। ध्वन्यालोक 3/143
2. श्रृंगारी चेत् कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्।
   स एव वीतरागश्चेत् नीरसं सर्वमेव तत्।। वही 3/143 वृत्तिभाग

है।[3] सुकवि अचेतन पदार्थों में प्राण फूँककर उन्हें चेतन बना लेता है, तथा उससे जैसा चाहता है, व्यवहार कराता है।[4] तब इस विलक्षण सृष्टि के अद्‌भुत स्रष्टा का महत्त्व किसको न स्वीकार होगा। वाल्मीकि और व्यास के प्रतिभा सम्बन्धी दर्शन का विवेचन कर चुके हैं। यद्यपि कवि से काव्यरचना के सिद्धान्तों के विवेचन की अपेक्षा नहीं की जा सकती है, पर यह सत्य है कि कवि कभी-कभी अपने **'प्रातिभदर्शन'** अथवा अन्तर्दृष्टि के द्वारा अनायास और सहज रूप में ही कुछ ऐसे मन्तव्यों को उन्मीलित कर देता है, जिन पर शास्त्रीय चिन्तन दीर्घकाल में एक लम्बी परम्परा से गुजर कर पहुँच पाता है अथवा नहीं भी पहुँच पाता। व्यास और वाल्मीकि के बाद ऐसे कवियों में हम कालिदास को ले सकते हैं। भारतीय चिन्तन में कवि और प्रजापति को एक दूसरे का पर्याय माना गया है। आनन्दवर्धन, मम्मट आदि आचार्यों ने कविसृष्टि की तुलना विधाता की सृष्टि से की है।

4.1.1 महाकवि कालिदास-

कवि और प्रजापति को परस्पर उपमित करने की प्रेरणा, संभव है, काव्यशास्त्रियों ने कालिदास से ली है क्योंकि कालिदास ने अपने रघुवंशमहाकाव्य में दिलीप के विषय में कहा है- **'तं वैधा विदधे नूनं महाभूतसमाधिना।'**[5] अर्थात् विधाता ने उस दिलीप जैसा परिपूर्ण मनुष्य विधाता के द्वारा पूर्णतः तल्लीन हो कर सामग्री के सम्यक् आधान से ही निर्मित किया जा सकता है। इसी प्रकार कलाकार के द्वारा भी काव्य का कला की सृष्टि पूर्णतया

3. नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरसरूचिरां निर्मितिमादधती भारती कर्वेजयति।। काव्यप्रकाश 1/1

4. अपूर्वं यद्वस्तु प्रथयति बिना कारणकलां।
जगतभावप्रख्यं निजरस भरात्सारयति च्।।
क्रमात्प्रख्योपाख्याप्रसरसुभगं भासयति तत्।
सरस्वत्यास्तवं कविसहृदयाख्यं विजयते।।
ध्वन्यालोक लोचन प्रथम उद्योत मंगलाचरण

5. रघुवंश 1/29

तन्मय होकर ही हो सकती है। इस तन्मयता में शिथिलता आने पर कलाकृति में भी अपूर्णता रह जाती है। कालिदास ने इस तथ्य को चित्रकला के माध्यम से समझाया है। अग्निमित्र को किसी कलाकार द्वारा निर्मित मालविका के चित्र में अधूरापन प्रतीत होता है, तो वह कहता है-**'सम्प्रति शिथिलसमाधिं मन्ये येनेयमालिखिता'**[6] अर्थात् अवश्य ही, चित्र बनाते समय चित्रकार समाधि में शिथिल हो गया होगा।

यहाँ पर यह स्मरणीय है कि राजशेखर ने अपने प्रतिभा के विवेचन में कालिदास का मत उद्धृत किया है। राजशेखर ने काव्य की रचनाप्रक्रिया में समाधि पर जो बल दिया है, इस संबंध में, संभव है, उन्होंने कालिदास से प्रेरणा ली हो। कालिदास स्वयं उसे श्रेणी के कवि हैं, जो समाधि की दशा में, प्रज्ञा के आलोक में काव्य की रचना करता है। इसीलिये रचना प्रक्रिया के सिद्धान्तों पर जो सूक्ष्म संकेत उन्होंने अपने काव्यों में दिये हैं, वे विचारणीय हैं। रचना के समय समाधि की इस दशा को कवि ने **'पूर्ण सवस्थ या समाहित चित्त'** भी कहा है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में शकुन्तला के विषय में दुष्यंत कहता है-

चित्रे निवेश्य परिकल्पितसत्त्वयोगा
रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नु।
स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे
धातुविभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्याः॥[7]

कहने का आशय यह है कि ब्रह्म ने पहले शकुन्तला के रूप की मानस कल्पना की होगी। उस समय उनके चित्त में सौन्दर्य का उफान आया होगा। उसने चित्त को पूर्ण सत्त्वस्थ या समाहित किया होगा, तभी शकुन्तला जैसी स्त्री रत्न की सृष्टि हुई होगी।

नृत्य करती मालविका के संबंध में भी कवि ने कहा है कि मालविका गीत के रस में तन्मय हो गयी थी। जिस प्रकार कवि या कलाकार में रचना करते समय तन्मयता की दशा आती है, जिसमें उसकी प्रतिभा प्रस्फुटित होती है, उसी

6. मालविकाग्निमित्रम् 2/9
7. अभिज्ञानशान्तुलम् 2/9

प्रकार सहृदय या भावक में भी कलाकृति के आस्वादन के समय समाधि या तन्मयता की दशा आती है, और वह अपनी भावयित्री प्रतिभा से उसके मर्म को समझता है। दुष्यंत शकुन्तला का चित्र बनाकर देखने लगा तो वह यह एकदम भूल गया कि वह चित्र देख रहा है। कालिदास ने इस अवस्था को **'यथालिखितानुभाविता'**[8] कहा है। अग्निमित्र के चित्र को देखकर मालविका की भी यही अवस्था हो गयी थी। सम्भवतया कालिदास यह भी मानते थे कि प्रतिभा के पूर्ण उन्मीलन के लिये इस समाधि के साथ सच्ची अनूभूति भी होनी चाहिये। रघुवंश में विलाप करती सीता के पास जाते हुए वाल्मीकि का चित्र अंकित करते समय कवि ने **'श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः'** कहकर शोक की श्लोक में सहज परिणति की ओर इंगित करके अनुभूति की तीव्रता को ही कविता का मूल माना है।

कालिदास भारतीय चिन्तन में विद्यमान प्रज्ञा सम्बन्धी धारणा से परिचित थे। 'मालविकाग्निमित्रम्' में नायक विदूषक से पूछता है- **'कश्चिदुपेयोपायदर्शने व्यापृतं ते प्रज्ञाचक्षुः'** अर्थात् उपेय उपाय का दर्शन करने में तुम्हारा प्रज्ञाचक्षु काम कर रहा है क्या? यहाँ प्रज्ञाचक्षु का कार्यव्यापार यद्यपि एक व्यावहारिक उपाय के दर्शन से संबंधित है, किन्तु कालिदास ने इस शब्द का प्रयोग यहाँ पर नायक के मुख से विदूषक को गौरव प्रदान करने के लिये किया है, अतः उसमें अतिशयोक्तिपूर्ण ढंग से **प्रज्ञाचक्षु** जैसे गंभीर दार्शनिक शब्द का प्रयोग जानबूझ कर कराया है। इस प्रकार कालिदास यह मानते थे कि संसार में सामान्य बुद्धि के द्वारा जिस उपाय या वस्तुतत्त्व का दर्शन नहीं हो सकता, प्रक्षाचक्षु द्वारा उसका अनावरण संभव है।

4.1.2 महाकवि अश्वघोष-

कालिदास के पश्चात् अश्वघोष दूसरे महत्त्वपूर्ण कवि है। अपने सौन्दरनंद महाकाव्य के अंत में अश्वघोष ने कहा है-

इत्येषा व्युपशान्तये न रतये मोक्षार्थगर्भा कृतिः।
श्रोतृणां गृहणार्थमन्यमनसां काव्योपचारात् कृता॥

8. संस्कृत कवियों का विकास पृष्ठ 71

यद्यपि इन पंक्तियों में अश्वघोष ने अपने काव्य का प्रयोजन स्पष्ट किया है, तथापि यहाँ भावक पर काव्य के प्रभाव के संबंध में भी उनकी मान्यता निहीत है, जिसके अनुसार काव्यार्थ ग्रहण से श्रोता के चित्त में **'व्युपशान्ति'** आती है। इस व्युपशान्ति की हम कालिदास की तल्लीनता से तुलना कर सकते है। कालिदास की तल्लीनता में रस और अनुभूति है, अश्वघोष की व्युपशान्ति में निर्वेद। दोनों की धारणाओं में मूलभूत अन्तर है, फिर भी दोनों कवि यह मानते हैं कि रसिक या भावक के भीतर काव्यार्थ को ग्रहण करने की क्षमता अपेक्षित है, जिसे आचार्यों ने भावयित्री प्रतिभा कहा है। इस प्रतिभा के द्वारा सहृदय जिस काव्यार्थ का भावन करता है, उसका अभिप्राय दोनों कवियों की दृष्टि में अलग अलग हो सकता है।

4.1.3 महाकवि भवभूति-

कालिदास के पश्चात् भवभूति संस्कृत के सर्वोच्च कवियों में परिगणित होते हैं। कालिदास की भाँति भवभूति ने भी अपनी रचनाओं में स्थान-स्थान पर रचनाकार की प्रतिभा और रचना व्यापार के संबंध में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण चिन्तनसूत्र संकेतित किये हैं। अपने नाटक **'उत्तररामचरित'** में उन्होंने वाल्मीकि के द्वारा पहली बार काव्यसृष्टि होने के प्रसंग का उल्लेख कराया है। इस प्रसंग में ब्रह्म वाल्मीकि से कहते हैं-**ऋषे, प्रबुद्धोऽसि वागात्मनि ब्रह्मणि। अव्याहतज्योतरार्षं ते चक्षुः प्रतिभातु। तद् ब्रूहि रामचरितम्।**[9] अर्थात् हे ऋषें, तुम्हें शब्दब्रह्म का प्रकाश प्राप्त हो चुका है। तुम्हारा आर्षचक्षु या ऋषिदृष्टि सदैव निर्बाध रूप से प्रकाशित होती रहेगी। अब तुम रामचरित की रचना करो। यहाँ पर भवभूति ने स्पष्ट रूप से यह संकेत दिया है कि सच्चे कवि के भीतर कविता सहसा शब्द के रूप में प्रकाशित होती है, जिसका कारण उसकी विशिष्ट प्रतिभा होती है। इसी को उपनिषदों की भाषा में भवभूति ने **'आर्षचक्षुः'** कहा है। अन्यत्र कवि ने यह भी संकेत दिया है कि शब्दब्रह्म का प्रकाश जिस कवि को प्राप्त हो जाता है, वह परिणतप्रज्ञ बन जाता है, और उसकी वाणी का सहृदय परिभावन या पूर्ण रूप से आस्वादन करते हैं-

9. उत्तररामचरित, तृतीय अंक

तामेतां परिभावयन्त्वभिनयैर्विन्यस्तरूपां बुधाः
शब्दब्रह्मविदः कवेः परिणतप्रज्ञस्य वाणीमिमाम्।।[10]

भवभूति कवि की इस परिणत प्रज्ञा और प्रतिभा के प्रकाश को ही काव्यरचना का सर्वस्य मानते हैं। संस्कृत के अन्य आचार्यों की भाँति उन्होंने व्युत्पत्ति आदि काव्य के अन्य हेतुओं को आवश्यक नहीं माना–

यद्वेदाध्ययनं तथोपनिषदां सांख्यास्य योगस्य च
ज्ञानं तत्कथनेन किं नहि ततः कश्चिद् गुणो नाटके।।[11]

कहने का आशय यह है कि वेदों और उपनिषदों का अध्ययन तथा सांख्य और योग का ज्ञान इन सब के प्रदर्शन से भला नाटक में गुण उत्पन्न हो सकता है?

4.1.4 महाकवि भारवि–

भारवि ने भी काव्य के संबंध में अपनी मान्यताएँ परोक्ष रूप से यत्र तत्र अपने काव्य में प्रकट की है। एक स्थान पर अपने किरातार्जुनीयम् महाकाव्य में उन्होंने कहा है–**प्रवर्तते नाकृतपुण्यकर्मणां प्रसन्न गंभीरपदा सरस्वती।**[12] अर्थात् प्रसन्न गंभीर पदों वाली सरस्वती या वाणी पुण्यरहित लोगों के मानस से प्रवाहित नहीं हो सकती। यहाँ पर उस वाणी या काव्य की रचना के लिये भारवि ने संस्कार रूप प्रतिभा की ओर संकेत किया है।

4.1.5 महाकवि कल्हण–

ग्यारहवीं शती के महाकवि कल्हण ने अपने सुप्रसिद्ध महाकाव्य राजतरंगिणी में कवि की सामर्थ्य का निरूपण करते हुए कहा है–

कोन्यः कालमतिक्रान्तं नेतुं प्रत्यक्षता क्षमः।
कविप्रजापतींस्त्यक्त्वा रम्यनिर्माणशालिनः।।[13]

---

10. उत्तररामचरितम सप्तम अंक भरतवाक्य
11. मालतीमाधव 1/7
12. किरातार्जुनीयम् 14/3
13. राजतरंगिणी 1/4

अर्थात् कहने का आशय यह है कि अतिक्रान्त काल को रम्यनिर्माणशाली कविप्रजापति को छोड़ कर भला और कौन प्रत्यक्ष बना सकता है? कल्हण ने यहाँ अतीत को प्रत्यक्ष बनाने वाली कवि की सामर्थ्य का उल्लेख कर प्रतिभा के स्वरूप पर प्रकाश डाला है। कवि को प्रजापति कहना भी आनन्दवर्धन आदि आचार्यों की परम्परा के अनुरूप है।

4.1.6 महाकवि बालचन्द्र-

12 वीं शती के **महाकवि बालचन्द्र** ने अपने **'वसन्तविलास'** महाकाव्य में कवित्त्व को अध्यात्म मार्ग के समकक्ष माना है। कवित्व तीनों कालों में तीनों लोको के प्रत्यक्ष दर्शन के लिये सिद्धांजन है-

सदा चिदानन्दसमृद्धिहेतुराध्यात्ममार्गो न परः कवित्वात्।
त्रिकाललोकत्रयदर्शनाय सिद्धांजनं नापरमग्नि किंचित्॥[14]

4.1.7 महाकवि नीलकण्ठ दीक्षित-

17 वीं शती के कवि नीलकण्ठ दीक्षित ने कवि के रचना व्यापार और प्रतिभा के सम्बन्ध में अनेक तथ्यों का उद्घाटन किया है। अपने काव्यों में उन्होंने प्रतिभा के सम्बन्ध में कहा है-

अस्ति सारस्वतं चक्षुराज्ञातस्वापजागरम्।
गोचरो यस्य सर्वोपियः स्वयं कर्णगोचरः॥[15]

अर्थात् कवियों के पास सारस्वत चक्षु नामक अचिन्त्य शक्ति हुआ करती है, जो सभी पदार्थों का प्रत्यक्ष कर सकती है, किन्तु वह स्वयं अगोचर है। वहाँ यह स्मरणीय है कि राजशेखर ने भी कवि प्रतिभा को सारस्वत चक्षुः कहते हुए उसके इसी प्रकार के सामर्थ्य का उल्लेख किया है। प्राचीन आचार्यों की तरह नीलकण्ठ यह भी मानते हैं कि कवि इस प्रतिभा से सभी प्रकार के पदार्थों का

---

14. वसन्तविलास 1/38
15. गंगावतरण, 1/7

साक्षात्कार कर सकता है-**'प्राप्ता विकासं प्रतिभा कवीनां' व्याप्नोति तद् वेति न यच्छिवोपि।**[16]

नीलकण्ठ **प्रतिभा** और **शक्ति** को पर्याय मानते हैं। प्रतिभा के बिना काव्य की रचना असंभव है। कवि प्रतिभा के द्वारा सर्वसंवेद्य भावों का प्रत्यक्षीकरण करता है, इसलिये प्रतिभा उस कवि की दिव्यदृष्टि है-

न पश्येत् सर्वसंवेद्यान् भावान् प्रतिभया यदि।
तदन्यद् दिव्यदृष्टित्वे किमिव ज्ञापकं कवेः॥[17]

4.2 संस्कृत काव्यशास्त्रियों की दृष्टि में प्रतिभा

संस्कृत काव्यशास्त्र में हम प्रतिभा-संबंधी विवेचन को नाट्यशास्त्र में आचार्य भरत ने प्रकारान्तर से तथा अलंकार सम्प्रदाय के आचार्य भामह आदि ने कवि के भीतर विद्यमान सृजन की सामर्थ्य या प्रतिभा को पहचानने और परिभाषित करने का उपक्रम किया। इसके पश्चात आनन्दवर्धन, कुन्तक तथा राजशेखर जैसे तत्त्वदर्शी आचार्यो ने अपने तलावगाही चिन्तन द्वारा कवि के रचना-संसार और काव्यसर्जना की प्रक्रिया के संदर्भ में प्रतिभा के स्वरूप और उपादेयता की छानबीन की। अन्त में भट्टतोत, अभिनवगुप्त, महिमभट्ट पण्डितराज जगन्नाथ जैसे काव्यशास्त्रियों ने पिछले आचार्यों के चिन्तन का समाहार और समाकलन करते हुए प्रतिभा के स्वरूप को दार्शनिक आधार प्रदान किया।

4.2.1 आचार्य भरत-

आचार्य भरत का प्रतिपाद्य नाट्य है किन्तु उन्होंने अपने नाट्यशास्त्र में काव्य तथा काव्यशास्त्र के कुछ प्रस्थानों का भी विवेचन किया है। उन्होंने काव्य प्रतिभा का स्पष्ट रूप में उल्लेख नहीं किया है किन्तु आचार्य भरत प्रतिभा संबंधी अवधारणा से अवश्य परिचित थे। काव्यप्रतिभा के विषय में परोक्षरूप से भरत ने कुछ विचारसूत्र प्रस्तुत किये है, जिनका प्रभाव उनके बाद में आने वाले

---

16. नीलकण्ठ दीक्षित के **शिवलीलार्णवमहाकाव्य** से सागरिका 11/4 में प्रकाशित
17. वही 11/4

आचार्यों पर पड़ा। भरत के अनुसार सर्वप्रथम अभिनीत होने वाला रूपक **अमृतमन्थन** नामक समवकार था, जिस स्वयं पितामह ब्रह्मा ने रचा था-

ततोस्मयुक्तो भगवता योजयामृतमन्थनम्।
एतदुत्साहजननं सुरप्रीतिकरं तथा।।[18]

अतः यह कहा जा सकता है कि भरत रूपक के रचनाकार अथवा कवि की रचनाशक्ति की दृष्टि से उसकी तुलना ब्रह्मा से की गयी। अभिनवगुप्त ने भरत के इस कथन की व्याख्या में स्पष्ट रूप से कहा है कि-**'एवं पितामहसदृशेन सर्वदा नाट्यवेदशरीररूपकनिर्माणे कविना भाष्यमिति।**[19] अर्थात् कहने का आशय यह है कि काव्यनिर्माण में कवि को भी सृष्टिकर्ता पितामह के सदृश सामर्थ्य वाला होना चाहिये। आनन्दवर्धन ने अपनी एक सुप्रसिद्धि कारिका में कवि को अपार काव्यसंसार का प्रजापति बताया।[20] भरत के अनुसार- **न तद् ज्ञानं न तत् शास्त्रं न तत् शिल्पं न सा कला, नाट्ये यन्न दृश्यते।**[21] अर्थात् ऐसा कोई शिल्प, ज्ञान, विज्ञान और कला नहीं है, जो नाट्य में न दिखाई पड़ती हो।

इस प्रकार हम यह भी कह सकते हैं कि रचनाकार की प्रतिभा में सबकुछ समाया हुआ है, इस सिद्धान्त को भरत मानते थे। भरत ने नाट्यनिर्माणकर्ता के साथ नाटक के प्रेक्षक के गुणों की भी चर्चा की है।[22] अतः कहा जा सकता है कि कारयित्री प्रतिभा के साथ भावयित्री प्रतिभा की धारणा का प्रारम्भ भी भरत ने किया था।

4.2.2 आचार्य भामह-

भरत के पश्चात् आचार्य भामह है। आचार्य भामह ने अपने ग्रन्थ **'काव्यालंकार'** के पंचम कारिका में 'प्रतिभा' का स्पष्ट उल्लेख करते हुए कहा है कि-

18. नाट्यशास्त्र 4/2
19. अभिनवभारती प्रथम भाग
20. ध्वन्यालोक 3/143 वृत्तिभाग
21. नाट्यशास्त्र 1/116
22. अभिनवभारती तृतीयभाग पृष्ठ 313

गुरुपदेशादध्येतुं शास्त्रं जडधियोऽप्लयम्।
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित्प्रतिभावतः॥[23]

अर्थात् गुरु के उपदेश से जड़बुद्धि भी शास्त्रों का अध्ययन कर सकते हैं, किन्तु काव्य किसी प्रतिभाशाली को कभी-कभी ही स्फुरित होता है।

इसमें भामह ने 'प्रतिभा' का संकेत ही नहीं किया, वरन् उसकी उत्कृष्टता और विरलता भी बतायी। तात्पर्य यह है कि भामह के अनुसार 'प्रतिभा' काव्य का अनिवार्य हेतु है, साथ ही वह अत्यन्त विरल भी है। 'प्रतिभा' की अनिवार्यता घोषित करने के अनन्तर आचार्य भामह ने अध्ययनजन्य 'व्युत्पत्ति' पर बल देते हुए कहा कि-

अतोभिवाञ्छता कीर्तिं स्थेयसीमा भुवः स्थितेः।
यत्नो विदितवेद्येन विधेयः काव्यलक्षणः॥[24]

अर्थात् भूलोक पर स्थितिपर्यन्त यश चाहने वाले को निरन्तर सब विषयों को जानकर काव्य का निर्माण करना चाहिए। अर्थात् काव्य रचना में यों ही नहीं प्रवृत्त हो जाना चाहिए, बल्कि उसके जो उपादान हैं उनका पहले सम्यक अवगम कर लेना चाहिए। अब पुनः प्रश्न उठता है कि कवि के ज्ञातव्य विषय क्या हैं?इसको आचार्य ने बताया है कि-

शब्दश्छन्दोभिधानार्थ इतिहासाश्रयाः कथाः।
लोको युक्तिः कलाश्चेति मन्तव्या काव्यगैर्ह्यमी॥[25]

अर्थात् व्याकरण, छन्द, कोष, अर्थ, इतिहाश्रित कथाएँ, लोक व्यवहार, तर्कशास्त्र और कलाओं का काव्यरचना के लिए मनन करना चाहिए।

भामह के इस वाक्य का महत्त्व बहुत बड़ा है, क्योंकि इसमें पहले इस विषय का विचार हुआ है कि काव्यरचना करने के लिए क्या-क्या अपेक्षित साधन हैं।

---

23. काव्यालंकार 1/5
24. वही 1/8
25. वही 1/9

यों मार्गदर्शक में जो त्रुटियाँ विद्यमान रहती हैं वे भी यहाँ हैं, क्योंकि उसका ध्यान नवीन वस्तुओं की उद्‌भावना पर रहता है, नामकरण आदि पर नहीं जो बाद की चीजें हैं। तथा प्रतिभा व्युत्पत्ति और अभ्यास की आपेक्षिक उपादेयता पर आगे के आचार्यों ने जो भी विचार-विमर्श प्रस्तुत किया है उसका आधार प्रस्तुत करने का श्रेय भामह को ही है।

आचार्य भामह ने काव्य के ऐसे पक्ष पर भी ध्यान दिया है जिस पर किसी दूसरे आचार्यों ने ध्यान नहीं दिया है और वह है उसका प्रेरणापक्ष। प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास से समन्वित होकर भी कवि जब चाहे, जिस विषय पर चाहे काव्य लिख डाले, यह सम्भव नहीं है। जब तक प्रेरणा की लहर नहीं उठती तब तक ये सब निष्क्रिय पड़े रहते हैं। इस प्रकार 'प्रतिभा' को **'शक्ति'** और व्युत्पत्ति को 'निपुणता' भी कहते हैं। यहाँ पर व्युत्पत्ति का अर्थ है 'ज्ञान।' वह दो प्रकार का है- शास्त्रीय और लौकिक। शास्त्रीय व्युत्पत्ति अध्ययन से होती है और लौकिक व्युत्पत्ति अवेक्षण से। काव्यरचना में दोनों अनिवार्यतः उपयोगी है। शास्त्रीय व्युत्पत्ति अभिव्यंजना को व्यवस्थित करने के लिए आवश्यक है और लौकिक व्युत्पत्ति अभिव्यंग्य को उपस्थित करने के लिए। प्रथम यह बताती है कि हम कैसे कहें और द्वितीय यह बताती है कि हम क्या कहें। कोश, व्याकरण, छन्द आदि अभिव्यंजना को आकर्षक एवं प्रभावोत्पादक बनाने के साधन मात्र हैं किन्तु उनकी सहायता से जिस वस्तु की अभिव्यक्ति अभिप्रेत है वह 'लोक' से ही प्राप्त होती है। काव्य को जो जीवन की आलोचना कहा गया है, वह इसी बात को ध्यान में रखकर कहा गया है, क्योंकि यहाँ 'लोक' शब्द जीवन का ही बोधक है। लोकनिरपेक्ष शास्त्रज्ञान कितना निरर्थक, घातक एवं भयावह होता है, यह पंचतंत्र आदि नीतिग्रन्थों के अनेक कथाओं से सिद्ध होता है। तात्पर्य यह है कि लौकिक और शास्त्रीय असंगति को बचाना ही 'व्युत्पत्ति' का लक्ष्य है। चूंकि लोक और शास्त्र दोनों असीम है, इसलिए व्युत्पत्ति की भी कोई सीमा नहीं है- 'अधिकस्याधिकं फलम्'। भामह ने इसे इस प्रकार कहकर व्युत्पत्ति के क्षेत्रविस्तार को स्पष्ट किया-

न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला।
जायते यन्न काव्याङ्गमहो भागे महान्कवे॥[26]

किसी कार्य के सम्पादन के लिए 'अभ्यास' वांछनीय है। 'अभ्यास' के बारे में आचार्य भामह ने कहा है कि-

शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनाम्।
विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्यः काव्यक्रियादरः॥[27]

'शब्द और अर्थ' का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर, काव्यज्ञों की उपासना कर अन्य (लेखकों) की रचनाओं को देखकर काव्य प्रणयन में प्रवृत्त होना चाहिए। इस प्रकार 'अभ्यास' को 'काव्यहेतु' स्वीकार करते समय संस्कृत आलांकारिकों ने इस बात पर सदा बल दिया है कि अभ्यास किसी काव्यज्ञ के निर्देशन में करना चाहिए और काव्यज्ञ से उनका अभिप्राय ऐसे व्यक्ति से है जिसमें काव्य करने की क्षमता हो और उसके गुण दोष विचार की भी। अर्थात् वह कारयित्री और भावयित्री दोनों शक्तियों से सम्पन्न हो वैसा ही व्यक्ति गुणदोष के आधान परित्याग का मार्ग दिखाकर सत्काव्य की सृष्टि की प्रक्रिया से परिचित करा सकता है।

इस प्रकार आचार्य भामह के अनुसार काव्य की रचना कोई प्रतिभावान् ही कर सकता है। क्योंकि इन्होंने प्रतिभा का उल्लेख कवि की शक्ति के रूप में किया है। शक्ति का लक्षण भामह ने अलग से नहीं दिया हैं इससे लगता है कि कवि प्रतिभा तथा शक्ति को एक ही वस्तु मानते हैं तथा भरत के ही समान भामह भी यह मानतें है कि काव्यरचना करते समय सभी प्रकार के शब्द, अर्थ, विज्ञान और कलाएँ कवि की रचना में समाहित हो जाते है।

4.2.3 आचार्य दण्डी–

भामह के पश्चात् काव्यप्रतिभा का विवेचन करने वालों में दण्डी, वामन और रुद्रट आते है। दण्डी ने काव्य के तीन भेद बताये है-नैसर्गिकीप्रतिभा, निर्मल

26. काव्यालंकार 5/4
27. वही 1/10

शास्त्र ज्ञान तथा काव्य रचना में अमन्द अभियोग या अभ्यास। उन्होंने काव्य-हेतुओं में प्रतिभा की गणना सर्वप्रथम की है, तथा प्रतिभा को नैसर्गिक या स्वतः उत्पाद्य कहा है, तथापि भामह से उनका दृष्टिकोण इस संबंध में भिन्न है। दण्डी के अनुसार सहज प्रतिभा के अभाव में भी शास्त्रज्ञान और प्रयत्न से किसी न किसी रूप में काव्य रचना संभव है।

आचार्य दण्डी ने अपने ग्रन्थ **'काव्यादर्श'** में कहा है कि-

नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहुनिर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः।।[28]

अर्थात् कहने का आशय यह है कि स्वाभाविक प्रतिभा, अत्यन्त निर्मल शास्त्र ज्ञान एवं काव्यरचना का अनवरत अभ्यास। श्रेष्ठ रचना में ये तीनों ही हेतु उत्तरदायी हैं। किन्तु इसमें सर्वाधिक महत्व है **जन्मजात प्रतिभा का**, जिसके होने से कवि को नये-नये विषयों का स्फुरण नई-नई तरह से होता है। आचार्य दण्डी ने कहा है कि यदि व्यक्ति में पूर्वजन्म की वासना के गुणों से सम्बद्ध अद्‌भुत प्रतिभा यदि न भी हो, तथापि शास्त्रश्रवण अर्थात् व्युत्पत्ति और यत्न अर्थात् अभ्यास के द्वारा सेवित वाक्‌देवी सेवकों पर कुछ कृपा अवश्य करती है-

न विद्यते यद्यपि पूर्ववासनागुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्।।[29]

कहने का आशय यह है कि प्रतिभा मनुष्य के जन्म के समय से भी हो सकती है तथा कालिदास आदि के समान जीवन में कभी भी प्रकट हो सकती है। इतना तो अवश्य है कि प्रतिभा के होते न शास्त्र ज्ञान की आवश्यकता है और न काव्यरचना के बहुत अभ्यास की ही। किन्तु ज्ञान और अभ्यास होने से काव्य प्रतिभामात्रप्रसूत काव्य की अपेक्षा परिष्कृत अवश्य हो जाता है।

काव्य जीवन की मधुर व्याख्या है। अतः जीवन में अपेक्षित विविध शास्त्रधाराओं (शास्त्रों) का ज्ञान तथा उसके प्रणयन में स्वभावतः आवश्यक

---

28. काव्यादर्श 1/103
29. वही 1/104

होता है। इन्हें ही काव्य की अंगभूत विद्या कहा जाता है। ये विद्याएँ देश काल, पात्र भेद से बदलती रहती है। पर भाषाशास्त्र (व्याकरण कोश) एवं काव्यशास्त्र ये दो शास्त्र काव्यप्रणयन में आधार का काम करते हैं। शास्त्र ज्ञान के अतिरिक्त महत्त्वपूर्ण है लोकवृत्त का ज्ञान। भाषाशास्त्र, काव्यशास्त्र और लोकवृत्त इन तीनों के ज्ञान में काव्य के उपादान कारण भाषा का ज्ञान सबसे पहले आवश्यक है। चाहे वह जीवन में व्यवहार से सीखी हो, या कोश और व्याकरण निरुक्त आदि की सहायता से। इसके अनन्तर लोकवृत्त का ज्ञान आवश्यक है जो जीवन में अनुभव से ही सही तरह से आ सकता है। तथा विविध शास्त्र भी इसका ज्ञान कराने में उपयोगी है। काव्यशास्त्र का ज्ञान काव्यरचना के लिए सबसे अन्त में आवश्यक है। यह शास्त्र वस्तुतः पुरातन काव्यों पर ही तो आधारित है; नाना कवियों की नानाविध अभिव्यक्ति के विवेचन-विश्लेषण से काव्यशास्त्र का उद्‌भव एवं विकास हुआ है। अतः यदि कोई प्रतिभाशाली भाषा और लोकवृत्त के ज्ञान की दृष्टि से समर्थ कवि पुराने कवियों की अभिव्यक्त की छाया अपने काव्य में ही नहीं आने देना चाहता तो उसके लिए काव्यशास्त्र का ज्ञान आवश्यक नहीं है। अनेक अपठित लोक कवियों के काव्य इसका उदाहरण है। पर इससे काव्यशास्त्र का महत्त्व कथमपि कम नहीं हो जाता बल्कि उसके ज्ञान के काव्य में परिष्कार अवश्य आता हैं और काव्यानन्द को प्राप्त कराने में तो यह एक बहुत आवश्यक शास्त्र है। इसके अनन्तर आचार्य दण्डी 'अभ्यास' को भी काव्य का कारण मानते है। प्रतिभा तथा विविध प्रकार का ज्ञान भी कुछ-कुछ रहता है। यदि मनुष्य उनका प्रयोग काव्यरचना में यत्नपूर्वक नहीं करता। अर्थात् जो मनुष्य यत्नपूर्वक कार्य करता है वह पण्डित है। इसके अतिरिक्त 'अभ्यास' का एक अन्य दृष्टि से भी बहुत महत्व है। क्योंकि अगर किसी व्यक्ति में अदृष्ट के बल से प्राप्त होने वाली स्वाभाविक प्रतिभा नहीं है तथा ज्ञान भी नहीं है, इसके बावजूद भी यदि वह काव्यरचना के 'अभ्यास' से निरन्तर श्रम से वाग्देवी की उपासना करता है तो वे उस पर अवश्य ही 'कृपा' करती हैं तथा वह 'कवि' कहलाकर कृतकृत्य होता है। इसलिए कीर्ति चाहने वाले को चाहिए कि-

30. काव्यादर्श 1/105

तदस्ततन्द्रैरनिशं सरस्वती श्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः।
कृशे कवित्वेऽपि जनाः कृतश्रमा विदग्धगोष्ठिषु विर्हुतमीयते।।[30]

अर्थात् सरस्वती की उपासना प्रमाद रहित होकर परिश्रम से करें। क्योंकि कवित्व तथा ज्ञान दुर्बल होने पर भी परिश्रम करने वाले लोग विद्वानों की गोष्ठियों में बिहार करने में समर्थ हो जाते हैं।

इस प्रकार प्रतिभा, श्रुत और यत्न इन तीनों में पूर्व-पूर्वतर उत्कृष्ट है। किन्तु श्रेष्ठ काव्यरचना के लिए व्यासज्यवृत्ति से इन तीनों की आवश्यकता है, अन्यतर की नहीं परन्तु कारण तीनों ही हैं। प्रतिभा एवं यत्न साक्षात् कारण है, श्रुत सहायक है।

4.2.4 आचार्य वामन-

आचार्य वामन भी इस विषय में दण्डी के अनुयायी प्रतीत होते हैं वे प्रतिभा को **'प्रतिभान'** शब्द के द्वारा अभिहित कर उसे कवित्व का बीज मानते हैं इसके अतिरिक्त काव्यों से परिचित, काव्यरचना में उद्यम, काव्योपदेश करने वाले गुरु की सेवा तथा विविध शास्त्रों के ज्ञान को भी काव्य की अभिव्यक्ति में कारण मानते है। इसके अतिरिक्त अवधान चित्र की एकाग्रता को भी काव्यरचना का सहायक स्वीकार किया है। एकाग्र चित्त वाला व्यक्ति ही अर्थों का साक्षात्कार करता है और काव्य में उसे निबद्ध करता है इस विषय में वामन बहुत ही व्यवहारिक प्रतीत होते है वे कहते है कि-

तत्र काव्यपरिचयो लक्ष्यज्ञत्वम्। काव्यबन्धोद्यमोऽभियोगः।
काव्योपदेशगुरुशुश्रूषणं वृद्धसेवा। पदाधानोद्धरणमवेक्षणम्।
कवित्वबीजं प्रतिभानम्। चित्तैकाऽमवधानम्। तद्देशकालाभ्याम्।[31]

अर्थात् अवधान देश और काल से उत्पन्न होता है। एकान्त तथा निर्जन स्थान में एवं ब्राह्य मुहूर्त में चित्त अपने आप प्रसन्न होता है। ऐसे स्थान तथा ऐसे समय में कविता की उपासना करने वाला साधक अपने मनोरथ में निःसन्देह सिद्ध होता

---
31. काव्यालंकार 1/3/12-18

है। वामन का यह उपदेश आज भी हमारे लिए अवधान कवित्व का महनीय साधन है। क्योंकि वामन ने काव्य के तीन अंग बताये है- **लोक विद्या प्रकीर्णञ्च काव्याङ्गानि।**[32] अर्थात् लोक, विद्या और प्रकीर्ण। जिसमें लोक का अर्थ है- **लोकवृत्तं लोकः।**[33] अर्थात् लोकव्यवहार। विद्या के अन्तर्गत- **शब्दस्मृत्यभिधानकोशाच्छन्दो- विचितिकलाकामशास्त्रदण्डनीतिपूर्वा विद्याः।**[34] अर्थात् शब्दशास्त्र, शब्दकोष, छन्दशास्त्र, कला, दण्डनीति आदि विद्याएँ आती हैं। इन विद्याओं से विविध प्रकार का ज्ञान होता है। शब्दशास्त्र से शब्दबुद्धि आती है। शब्दकोष से शब्द के अर्थ का निश्चय होता है। किन्तु अपूर्व शब्दों के लिए कोश का उपयोग करना उचित नहीं है। अप्रयुक्त अप्रचलित शब्दों का प्रयोग काव्य में नहीं करना चाहिए। छन्दशास्त्र के द्वारा छन्द सम्बन्धी संशय का नाश होता है। काव्यतत्व की उपलब्धि के लिए कलाकृति की रचना सम्भव नहीं है। कामशास्त्र से प्रणयरीति का ज्ञान प्राप्त होता है तथा काव्यविषय में प्रणयरीति का ही बाहुल्य रहता है। दण्डनीति राजनीति से ही नीति और अनीति की पहचान होती है। षाड्गुण्य अर्थात् सन्धि और विग्रह, यात्रा और विराम, विभाजन और संयोग इन छः गुणों का प्रयोग नीति है। इसका उल्टा अनीति है। इसका ज्ञान हुए बिना काव्य में नायक और प्रतिनायक के गुणों का काव्यों में वर्णन नहीं किया जा सकता। दण्डनीति के अध्ययन से कथावस्तु में जटिलता आती है। इतिहास आदि पर आश्रित इतिवृत्त काव्य का शरीर है। और इतिवृत्त में जटिलता दण्डनीति से ही आती है। इसी प्रकार अन्य विद्याओं के भी लाभ हैं।

किन्तु यह आश्चर्य की बात है कि प्रतिभा को कवित्व का बीज मानते हुए वामन ने उसकी गणना काव्यांग के प्रकीर्ण के अन्तर्गत करते है और वह भी सब के अन्त में-

---

32. काव्यालंकार सूत्र 1/3/1
33. वही 1/3/2
34. वही 1/3/3

जन्मान्तरागतसंस्कारविशेषः कश्चित्। यत्याद्विना काव्यं न निष्पद्यते, निष्पन्नं वा हास्यातनं स्यात।[35] अर्थात् यह प्रतिभा पूर्वजन्मों से प्राप्त एक विशेष प्रकार का संस्कार हुआ करती है, जिसके बिना काव्य की निष्पत्ति नहीं होती और काव्य यदि किसी प्रकार निष्पन्न हो भी जाय, तो वह हास्यास्पद बन जाता है। वामन प्रकीर्ण के अन्तर्गत- **लक्ष्यज्ञात्वमभियोगो वृद्धसेवाऽवेक्षणं प्रतिभानमवधानं च प्रकीर्णम्।**[36] 'लक्ष्यज्ञान, अभियोग, वृद्धसेवा, अवेक्षण प्रतिभान और अवधान आते हैं।' जिसमें **लक्ष्यज्ञान** का अर्थ है दूसरों के काव्य से परिचय। **अभियोग** से तात्पर्य है काव्यरचना में उद्यम लगन, काव्यकला की शिक्षा देने योग्य गुरुजन की सेवा वृद्ध सेवा है। पदों को रखना और हटाना अर्थात् उपयुक्त शब्द का चयन और अनप्रयुक्त का त्याग **'अवेक्षण'** कहलाता है। इस प्रकार इसमें संदेह नहीं कि वामन ने प्रतिभा प्रतिभान को कवित्त्व का बीज माना है। अपनी प्रतिभा की अवधारणा को चित्त की एकाग्रता से ही सम्भव होता है। इस एकाग्रता में बाह्य पदार्थों की निवृत्ति हो जाती है और चित्त अपने भीतर काव्यार्थ का साक्षात्कार करता है। इस प्रकार वामन ने प्रतिभा संबंधी अवधारणा को अपने पूर्ववर्ती आचार्यों से ग्रहण किया है, पर उसमें उन्होंने अपनी ओर से बहुत कुछ जोड़ा है। इसके साथ ही सम्पूर्ण विवेचन से यह भी ज्ञात होता है कि उन्होंने 'प्रतिभा' को वांछित गौरव नहीं प्रदान किया। इसका कारण एक तो उन्होंने **'लोक'** और **'विद्या'** को सर्वथा पहला स्थान दिया तथा प्रतिभा को उन्होंने तीसरे काव्यांग **'प्रकीर्ण'** के अन्तर्गत उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने लोक और विद्या को सर्वथा स्वतन्त्र महत्त्व दिया है, जबकि अन्य आचार्यों ने उन्हें **'प्रतिभा'** का पोषक अथवा 'प्रतिभा' द्वारा अनुशासित ही माना है। प्रतिभा की प्रतिष्ठा, वासना अर्थात् आत्मपरक दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा है। वामन ने उसका निषेध तो नहीं किया परन्तु **'प्रकीर्ण'** नामक काव्यांग में लाकर रख दिया।

35. काव्यालंकारसूत्र 1/3/16
36. वही 1/3/11

4.2.5 आचार्य रुद्रट-

आचार्य दण्डी की भाँति रुद्रट ने प्रतिभा को मात्र नैसर्गिक नहीं माना है। इन्होंने प्रतिभा के स्थान पर शक्ति शब्द का प्रयोग किया है। इन्होंने शक्ति के बारे में कहा है कि-

'मनसि सदा सुसमाधिनी विस्फुरणमनेकधाभिधेयस्य।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः।।'[38]

अर्थात शक्ति वह है जिसके होने पर स्वस्थ चित्त में निरन्तर अनेक प्रकार के वाक्यार्थों की स्फूर्ति या उत्पत्ति होती रहती है तथा क्लिष्ट रहित अर्थात् शीघ्र ही अर्थ प्रतिपादन में समर्थ पद प्रस्फुटित होते रहते हैं। इस शक्ति को दण्डी प्रमुख आलंकारिकों ने 'प्रतिभा' कहा है। इसके दोनों प्रकारों के बारे में आचार्य ने कहा है कि-

प्रतिभेत्यपरैरुदिता सहजोत्पाद्या च सा द्विधा भवति।
पुसां सह जातत्वादनयोस्तु ज्यायसी सहजा।।[39]

प्रतिभा दो प्रकार की होती है-सहजा और उत्पाद्या। व्यक्ति के साथ ही उत्पन्न होने के कारण इन दोनों में सहजा श्रेष्ठ है। सहजा प्रतिभा (शक्ति) उसे कहते है जो अपना उत्कर्ष स्वयं धारण करने वाली होती है। क्योंकि यह अन्य हेतुओं (शक्ति से इतर व्युत्पत्ति और अभ्यास का अन्वेषण अपने आप कर लेती है और उत्पाद्या तो बाद में होने वाली व्युत्पत्ति से बड़े कष्टों द्वारा प्राप्त होती है।

प्रतिभा के अतिरिक्त **'व्युत्पत्ति'** के बारे में आचार्य ने कहा कि-

छन्दोव्याकरणकलालोकस्थितिपदपदार्थविज्ञानात्।
युक्तायुक्तविवेको व्युत्पत्तिरियं समासेन।।[40]

---

37. काव्यालंकार सूत्र, 1/3/17
38. काव्यालंकार 1/15
39. वही 1/16
40. वही 1/18

अर्थात् छन्द, व्याकरण, कला, लोकस्थिति, पद तथा पदार्थों के विशेष ज्ञान से उचित एवं अनुचित का सम्यक् परिज्ञान ही संक्षेप में 'व्युत्पत्ति' है। वास्तव में सर्वज्ञता ही व्युत्पत्ति की विस्तृत परिभाषा है, क्योंकि इस जगत में कोई भी ऐसा वाच्य अथवा वाचक नहीं है जो किसी न किसी रूप में काव्य का अंग न बन जाता हो।[41] अब तीसरे हेतु **'अभ्यास'** के बारे में आचार्य ने कहा है कि-

अधिगतसकलज्ञेयः सुकवेः सुजनस्य संनिधो नियतम्।
नक्तंदिनमस्येदभियुक्तं शक्तिमा-काव्यम्॥[42]

अर्थात् सम्पूर्ण पदार्थों के ज्ञाता और शक्तिमान भी कवि का सुजन (सुहृदय) एवं सुकवि के पार्श्व में अर्थात् उसकी संगति में रहकर सर्वथा काव्य का 'अभ्यास' करना चाहिए।

4.2.6 आचार्य वाग्भट-

आचार्य वाग्भट ने **'प्रतिभा'** को ही काव्यरचना का एकमात्र कारण माना है, व्युत्पत्ति और अभ्यास प्रतिभा का संस्कार करते हैं, वे स्वयं काव्य के हेतु नहीं है-**'प्रतिभैव च कवीनां काव्यकारणकारणम्। व्युत्पत्यभ्यासो तस्या एक संस्कारकारको न तु काव्यहेतुः।'**[43]

प्रतिभा का लक्षण वाग्भट ने इस प्रकार किया है-

प्रसन्नवदनव्यार्थयुक्त्युद्बोधविधायिनी।
स्फुरन्ती सत्कवेर्बुद्धिः प्रतिभा सर्वतोमुखी॥[44]

अलंकार और रीतिवादी आचार्यों के द्वारा काव्य के अलंकार, गुण, रीति, वक्रोक्ति आदि विभिन्न पक्षों का विवेचन हो चुकने के पश्चात् काव्य के क्षेत्र में सूक्ष्मतर तत्त्वों का अन्वेषण और विवेचन प्रारम्भ हुआ। उसके साथ ही काव्य

---

41. विस्तरस्तु किमन्यत्तत इह वाच्यं न वाचकं लोके।
 न भवति यत्काव्यांग सर्वज्ञत्वं ततोऽन्येषां॥ काव्यालंकार 1/19

42. वही 1/20

43. वाग्भटालंकार पृष्ठ 2

44. वही 1/4

प्रतिभा के विवेचन में भी सूक्ष्मता और गहराई आयी। आनन्दवर्धन, कुन्तक, राजशेखर और महिमभट्ट जैसे सूक्ष्मदर्शी आचार्यों ने कवि व्यापार और काव्य के विभिन्न पक्षों के साथ प्रतिभा का तारतम्य रूप से संबंध निरूपित करते हुए उसे व्यापक धरातल पर व्यास्थापित किया।

4.2.7 आचार्य आनन्दवर्धन-

नवीं शताब्दी में आनन्दवर्धन के द्वारा ध्वनि सिद्धान्त की पूर्ण स्थापना के साथ ही काव्यचितंन के क्षेत्र में भी नवीन युग का सूत्रपात हुआ। आनन्दवर्धन ने काव्यप्रतिभा का विवेचन भी अपने सिद्धान्त के आलोक में किया। उनके अनुसार प्रतिभा कवि का आलोक सामान्य या असाधारण वैशिष्ट्य है जो काव्य में परिस्फुरित होता है। कवि के इस असाधारण वैशिष्ट्य की परख रस, भाव आदि गूढ तत्वों की धारा बहाने वाली उसकी आस्वादन योग्य वाणी या कविता के द्वारा ही की जा सकती है। आचार्य आनन्दवर्धन ने प्रतिभा के बारे में कहा है कि-

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्रत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं, विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु।[45]

अर्थात् प्रतीयमान अर्थ ही स्वादु, चवर्णीय, सरस सभी रूपों में प्रतिभा है। प्रतिभा ही स्वादु प्रतीयमान अर्थ को उद्भासित करती हुई महावियों की वाणी में उनकी अलौकिकता को प्रकट करती है। इस प्रतिभा विशेष के कारण ही अनेक प्रकार के परम्पराशाली कालिदास, भारवि, माघ, भवभूति, दण्डी, श्रीहर्ष आदि छः कवि इस जगत में हुए।

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु-
निष्यन्दमाना महतां कवीनाम
अलोक सामान्यमभिव्यनक्ति
परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्॥[46]

---

45. ध्वन्यालोक 1/4
46. वही 1/4

इस प्रकार आनन्दवर्धन की दृष्टि में कवि की वाणी में हृदय को आह्लाद प्रदान करने वाले- रस, भाव आदि तत्व जितनी ही अधिक मात्रा में अभिव्यक्ति होगें, उतनी ही उत्कृष्ट उसकी प्रतिभा होगी। अतः कवि की यह शक्ति अथवा प्रतिभा काव्य रचना के लिये अनिवार्य रूप से अपेक्षित गुण है। यह काव्योत्कर्ष का निकष है। व्युत्पत्ति, अभ्यास आदि अन्य सभी तत्त्व इसके सामने महत्वहीन है। व्युत्पत्ति आदि के अभाव में भी उत्कृष्ट काव्य की रचना हो सकती है, क्योंकि-

अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः।
यस्त्वशक्तिकृतो दोषः स झगित्यवभासते॥[47]

अर्थात् अव्युत्पत्ति के द्वारा होने वाले दोष कवि की शक्ति या प्रतिभा के चमत्कार में छिप जाते हैं, जबकि प्रतिभा के अभाव में काव्य में दोष तुरन्त खटकने लगता है। आनन्दवर्धन का कहना है कि प्रतिभा है, तो कवि के पास सब कुछ है, यदि प्रतिभा नहीं है, तो उसके पास कुछ भी नहीं- **'तस्मिन स्तुन्यसति न किंचिदेव कवेर्वस्त्वस्ति।'** आचार्य आनन्दवर्धन का मानना है कि यदि कवि के पास प्रतिभा हो तो विभिन्न प्रकार के ऐसे ऐसे अलंकार स्वतः उसके काव्य में फूट पड़ते हैं, जिनका निरूपण पण्डितों के लिये भी करना कठिन है।[48] जिस प्रकार काव्य के पारखी सहृदय की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि कवि की वाणी में अभिव्यक्त होने वाले निगूढ आह्लादकारी तत्त्वों के द्वारा ही वह कवि की दृष्टि से भी कह सकते है। कि प्रतिभा के वैशिष्ट्य से ही काव्य में सूक्ष्म व्यंग्य तत्व अभिव्यक्त होते है। यदि कवि के पास प्रतिभा हो, तो काव्य में अभिव्यंग्य अर्थ का उसे कभी भी अभाव प्रतीत नहीं होगा। रस, भाव आदि निगूढ तत्वों की अभिव्यक्ति से कवियों का प्रतिभा रूपी गुण आनन्त्य को प्राप्त होता है।[49] इस प्रकार प्रतिभाशाली कवि के लिये विषयों की असीमितता तथा

---

47. ध्वन्यालोक वृत्ति भाग 3/6

48. अलंकारन्तराणि हि निरूप्यमाणदुर्घटान्यपि रससमाहितचेतसः प्रतिभानवतः कवेरहम्पूर्विकया परापतन्ति।। वही पृष्ठ 233-34

49. ध्वनेरित्थं गुणीभूतव्यंग्यस्य च समाश्रयात्।
न काव्यार्थविरामोस्ति यदि स्यात् प्रतिभागुणः।। वही 4/6
ध्वनेर्यः सगुणीभूतव्यंग्यस्याध्वा प्रदर्शितः।
अनेनानन्त्यमायाति कवीनां प्रतिभागुणः।। वही, 4/1

अनन्तता और नवीनता सदा बनी रही है। ऐसे कवि के लिये वर्ण्य विषय कभी भी चुक नहीं सकते। भले ही उसके पहले असंख्य कवि अगणित विषयों को लेकर विविध अर्थों वाली रसमयी सृष्टि कर चुके हों, प्रतिभाशाली कवि सदैव नवीन भूमि का आविष्कार कर लेता है। जो कवि दूसरों का अनुकरण न कर अपनी प्रतिभा पर ही निर्भर रहता है, उसके लिये सरस्वती रूपिणी प्रतिभा स्वयं ही शब्दों और अर्थों की संगति बैठा देती है-

प्रतार्यतां वाचो निहितविविधार्थामृतरसा
न सादः कर्तव्यः कविभिरनवद्ये स्वविषये।
परास्वादानेच्छा विरतमनासो वस्तु सुकवेः
सरस्वत्यैषा घटयति यथेष्टं भगवती॥[50]

इस प्रकार आनन्दवर्धन ने कवि की रचना प्रक्रिया की दृष्टि से तो प्रतिभा के स्वरूप का विश्लेषण किया ही, साथ ही उन्होंने भावक या सहृदय में विद्यमान प्रतिभा पर भी अपने मत प्रकट किया है। आनन्दवर्धन के अनुसार-

शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव कवेलम्॥[51]

काव्य में निहित निगूढ व्यंग्य तत्व केवल शब्द और उनके कोषगत अर्थ के परिज्ञान मात्र से नहीं समझा जा सकता। काव्यार्थ के तत्व लोग ही काव्य के मर्म को समझ सकते है। इस प्रकार कवि को काव्य की रचना करने के लिये जहाँ अलोक सामान्य प्रतिभा के वैशिष्ट्य की आवश्यकता होती है, वहीं सहृदय में भी काव्यार्थ के भावन लिये भावकत्व या तन्मयीभवन की क्षमता अपेक्षित है। आगे चलकर राजशेखर ने सहृदय की इस प्रतिभा को भावयित्री प्रतिभा कहा। आनन्दवर्धन ने दोनों ही प्रकार की प्रतिभाओं के लिये क्रमशः कविदृष्टि तथा वैपश्चिती दृष्टि- ये पर्याय रखे है। इन दोनों दृष्टियों से सार का अवलोकन करता हुआ व्यक्ति कभी श्रान्त नहीं होता-

---

50. ध्वन्यालोक 4/17
51. वही 1/7

या व्यापारवती रसान् रसयितुं काचित् कवीनां नवा
दृष्टिर्या परिनिष्ठितार्थविषयोन्मेषा च वैपश्चिती॥
ते द्वे अप्यवलम्ब्य विश्वमनिशं निर्वर्णयन्तो वयं
श्रान्ता नैव च लब्धमब्धिशयन त्वद्‌भक्तितुल्यं सुखम्॥[52]

आचार्य आनन्दवर्धन अपने ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' में 'प्रतिभा' को काव्यहेतु माना है। इन्होंने प्रतिभा और व्युत्पत्ति में शक्ति (प्रतिभा) को अधिक महत्त्व प्रदान किया है। कवि की प्रतिभाशक्ति के बल से काव्यदोष दब जाने से वह अचारुत्त्व रूप से प्रतीत नहीं होता। काव्य में दो प्रकार के दोष पाये जाते हैं- प्रथम कवि की अव्युत्पत्ति से दूसरा कवि की अशक्ति से अर्थात् एक दोष अव्युत्पत्तिकृत है और दूसरा अशक्तिकृत है। वर्णनीय वस्तु के नये-नये ढंग से वर्णन कर सकने की नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा को 'प्रतिभा' शक्ति कहते हैं। तथा उसके उपयुक्त समस्त वस्तुओं के पोर्वापर्य विवेचन को 'व्युत्पत्ति' कहते हैं।

इनमें से अव्युत्पत्तिदोष तो प्रतिभा शक्ति के प्रभाव से दब जाता है, इस कारण कभी-कभी अनुभव में नहीं आता परन्तु उनमें जो दोष अशक्तिकृत है वह तो तुरन्त प्रतीत हो जाता है। जैसे 'कालिदास' आदि महाकवियों के द्वारा उत्तम देवता विषयक प्रसिद्ध सम्भोग श्रृंगारादि के वर्णन का माता-पिता के सम्भोग वर्णन के समान अत्यन्त अनुचित होने पर भी वहाँ अनौचित्य दोष रहने पर भी कालिदासादि की प्रतिभा शक्ति से अनौचित्य दोष दब जाने के कारण ग्राम्य रूप से प्रतीत नहीं होता है-

कथमचारुत्वं तादृशे विषये सहृदयानां नावभातीति चेत्। कविशक्तितिरोहितत्वात्। द्विविधो हि दोषः कवेरुव्युत्पत्तिकृतो अशक्तिश्च।........प्रतिभासतो।[53]

इसमें कवि कालिदास ने शिव और पार्वती के सम्भोग श्रृंगार का वर्णन इतनी सुन्दरता से किया है कि पाठक का हृदय रसास्वाद में ही मगन हो जाता तथा

52. ध्वन्यालोक पृष्ठ 541
53. वही वृत्ति भाग 3/6

औचित्य और अनौचित्य के विचार का अवसर ही नहीं आ पाता है। जैसे मल्लयुद्ध या खेल आदि की किसी प्रतिद्वन्द्विता में साधुवाद के स्थान पर आर्शीवाद के योग्य किसी छोटे व्यक्ति के कौशल को देखकर दर्शक के मुंह से हठात साधुवाद निकल पड़ता है और उसका अनौचित्य प्रतीत नहीं होता। उसी प्रकार कवि की प्रतिभावश सहृदय उस शृंगार में इतना तन्मय हो जाता है कि उसे औचित्य-अनौचित्य की मीमांसा का अवसर नहीं मिलता। यहाँ पर शक्ति (प्रतिभा) के बल से दोष का तिरस्कृत हो जाता है। अथवा दब जाता है।

4.2.8 आचार्य कुन्तक-

कवि प्रतिभा के संबंध में कुन्तक का विवेचन आनन्दवर्धन की मान्यताओं के अनुरूप ही है। आनन्दवर्धन ने ध्वनि के द्वारा काव्य की आत्मा की मीमांसा की थी, कुन्तक ने अपने वक्रोक्ति के निरूपण में काव्य के जीवन का अनुसंधान किया। काव्यविवेचन के क्षेत्र में इन दोनों महान् आचार्यों की दृष्टि में मूलतः अन्तर नहीं है, अतः दोनों का कविप्रतिभा संबंधी विवेचन भी समानता रखता है। आनन्दवर्धन की ही भाँति कुन्तक ने भी काव्य में वक्रोक्ति की उपस्थिति का गंभीर विश्लेषण करते हुए कवि की प्रतिभा के साथ उसके अन्तः संबंध को खोजा, अतः इन दोनों ही आलोचकों ने कवि के रचना व्यापार पर अपेक्षाकृत अधिक केन्द्रित रही है, इसलिये उनके प्रतिभा विचार का अधिक महत्व है।

आचार्य कुन्तक ने पूर्ण विश्वास के साथ 'प्रतिभा' के महत्व को स्वीकार किया है। अपने ग्रन्थ वक्रोक्ति जीवितम में यत्र-तत्र फैले हुए उद्धरणों को संकलित कर 'प्रतिभा' के विषय के मत को उपस्थित किया है। वास्तव में कवि प्रतिभा का कुन्तक के मन पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा है कि जहाँ कहीं अवसर आया, वहीं पर उन्होंने अत्यन्त उच्छ्रवसित शब्दों में उसका कीर्तिगान किया है। कुन्तक के अनुसार सम्पूर्ण काव्यविधान का केन्द्रबिन्दु ही **'प्रतिभा'** है- **यद्यपि द्वयोरव्येतयोस्तयोस्तत्प्राधान्येनैव वाक्योपनिबन्धः तथापि कविप्रतिभाप्रोढ़िरेव प्राधान्येनावतिष्ठते।**[54]

---

54. वक्रोक्तिजीवितम् 1/28 वृत्तिभाग

आचार्य कुन्तक सुकुमारमार्ग का वर्णन करते समय प्रसंगवंश 'प्रतिभा' के महत्व को निर्देशित करते हुए कहा है कि-

यत्किंचनापि वैचित्र्यं तत्सर्व प्रतिभोद्भवम्।
सौकुमार्यपरिस्पन्दस्यन्दि यत्र विराजते।।[55]

अर्थात् सुकुमारमार्ग वह है जहाँ प्रतिभा से उद्‌भुत जितना भी वैचित्र्य है वह सब सुकुमार स्वभाव से प्रभावित होता हुआ शोभित रहता है। प्रतिभा से उद्‌भुत सौन्दर्य को कुन्तक ने सर्वत्र आहार्य अर्थात् व्युत्पत्ति-साध्य सौन्दर्य की अपेक्षा कहीं अधिक महत्व दिया है। कालिदास की प्रशंसा करते हुए एक स्थान पर कहा है कि- **एतच्चैतरन्येव कवेः सहजसौकुमार्यमुद्रितसूक्ति- परिस्पन्दसौंदर्यस्य पर्यालोच्यते, न पुनरन्येषा माहार्यमात्रकाव्यकरणकौशल- श्लाघिनाम्।**[56] इन शब्दों से व्यक्त है कि कुन्तक की दृष्टि से प्रतिभाजन्य सौन्दर्य और आहार्य सौन्दर्य का सापेक्षिक मूल्य क्या है? इसके अतिरिक्त काव्यहेतु के प्रसंग में स्पष्ट होता है कि कुन्तक अन्य काव्यहेतुओं अर्थात् 'व्युत्पत्ति' तथा 'अभ्यास' को भी प्रतिभाजन्य ही मानते हैं। स्वभाव तथा उन दोनों के व्युत्पत्ति तथा अभ्यास के उपकार्य और उपकारक भाव से स्थित होने से स्वभावतः उन दोनों को उत्पन्न करता है, और वे दोनों उसे परिपुष्ट करते हैं।[57]

आचार्य कुन्तक ने कवि प्रतिभा को अनन्त माना है- **यस्मात् कवि प्रतिभानन्त्यान्नियतत्वं न सम्भवति।**[58] अतएव उनके कृतित्व का भी अन्त नहीं है। प्रतिभा में वह शक्ति है जिससे कि प्रयत्न के बिना ही शब्द अर्थ में कोई अपूर्व सौन्दर्य स्फुरित सा दिखाई देता है।[59]

कुन्तक अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की ही परम्परा में यह मानते हैं कि प्रतिभा

---

55. वक्रोक्तिजीवितम् 1/28
56. वही 1/58 वृत्तिभाग
57. वही 1/24
58. वही 1/27
59. प्रतिभा प्रथमोदभेदसमये यत्र वक्रता।
    शब्दाभिधेयोरन्तः स्फुरतीव विभाव्यते।। वही 1/34

कवि की अद्भुत शक्ति है। यह प्रतिभा प्राक्तन और अद्यतन संस्कारों के परिपाक से प्रौढ़ बनती है-**प्राक्तनाद्यतनसंस्कारपरिपाकप्रौढ़ा प्रतिभा काचिदेव कविशक्तिः।**[60] आचार्य कुन्तक का दृष्टिकोण प्रतिभा स्वरूप के विषय में समन्वयवादी है। इनके अनुसार प्रतिभा पूर्व जन्म और इस जन्म के संस्कारों का परिपाक है। इस प्रकार आचार्य कुन्तक ने पूर्व जन्म के ही नहीं वरन् इस जन्म के संस्कारों को भी मान्यता दी है और दूसरे 'प्रतिभा' को संस्कार विशेष न मानकर संचित संस्कारों का परिपाक माना है।

वामन ने प्रतिभा को कवित्व का बीज कहा था। बीज के इस उपमान को आगे बढाते हुए कुन्तक ने प्रतिभा और काव्यनिर्माण की प्रक्रिया के संबंध को 'नूतनांकुरन्याय' के द्वारा स्पष्ट किया है- **'तत उद्भिन्नौ नूतननांकुरन्यायेन स्वयमेव समुल्लसितौ न पुनः कदर्थनाकृष्टौ नवौ प्रत्यग्रौ तद्विदाह्लादकारित्वसामर्थ्ययुक्तौ शब्दार्थौ'**[61] अर्थात् प्रतिभा से शब्द और अर्थ वैसे ही फूट पड़ते हैं, जैसे बीज से नया अंकुर फूट पड़ता है। कुन्तक के इस नंवाकुरन्याय के आधार पर हम काव्यरचना में प्रतिभा के योगदान को भलीभाँति समझ सकते है। जिस प्रकार अंकुर के उद्भव के लिये मिट्टी, हवा, पानी आदि अनेक आनुषंगिक कारण हो सकते हैं, किन्तु बीज उन सब में सर्वथा अपेक्षित, मूल कारण है।

इस प्रतिभा के द्वारा काव्यरचना की प्रक्रिया को और भी स्पष्ट करते हुए कुन्तक ने कहा है कि अंकुर जिस प्रकार बीज से स्वभावतः प्रस्फुटित होता है, उसी प्रकार काव्य के उपादान प्रतिभा से सहज रूप में उल्लिखित होते है। उनके लिये किसी प्रकार के प्रयास की आवश्यकता नहीं। कवि प्रतिभा के द्वारा अनाहार्य रूप में काव्यसृष्टि होने की बात पर कुन्तक ने बार बार बल दिया है- **तत्सर्वमलंकारादिप्रतिभोद्भवं कविशक्तिसमुल्लसितमेव। न पुनराहार्यं' यथाकथंचित्प्रयत्नेन निष्पाद्यम्।**[62] कुन्तक के अनुसार काव्य में जो कुछ भी

60. वक्रोकितजीवितम् 1/35
61. वही पृष्ठ 49
62. वही पृष्ठ 48

वैचित्र्य या सौन्दर्य होता है, वह सब प्रतिभा से ही उत्पन्न होता है-**यत्किञ्चनापि वैचित्र्यं तत्सर्वं प्रतिभोदभवम्।**[63] दण्डी की तरह कुन्तक इस बात को तो स्वीकार करते हैं कि प्रतिभा की दरिद्रता होने पर सच्ची कविता का सृजन संभव नहीं होता। प्रतिभा-दरिद्र कवि जिस प्रकार का काव्य लिखता है, उसमें वर्ण-सावर्ण्य रम्यता या अनुप्रास, यमक आदि के द्वारा सायास उत्पन्न होने वाली शब्दों की झंकार हो सकती है, किन्तु ऐसे काव्य में वाच्यवैचित्र्य अर्थात् अर्थ और भाव का सौष्ठव कदापि नहीं जा सकता।

आनन्दवर्धन की ही भाँति कुन्तक इस बात को स्वीकार करते हैं कि प्रतिभा की उपस्थिति में कवि को अपने लिये विषय-वस्तु शब्द और अर्थ का कभी अभाव नहीं प्रतीत हो सकता। इसके साथ ही वे काव्य रचना के क्षेत्र में प्रतिभा के कर्तव्य को और भी स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि कई बार कवि के मानस में एक स्थान पर प्रयुक्त होने के लिये अनेक रमणीय शब्द उपस्थिति हो जाते हैं, उनमें से सर्वाधिक उपयुक्त शब्द की परख पर प्रतिभा के द्वारा ही कर पाता है।

राजशेखर ने शक्ति और प्रतिभा को अलग अलग मानकर अपनी सूक्ष्म विश्लेषणात्मक बुद्धि का परिचय तो दिया था, किन्तु दोनों के कार्य व्यापार का वे पृथक्-पृथक् निरूपण न कर सके। कुन्तक ने प्रतिभा और शक्ति के पार्थक्य को स्वीकार किये बिना ही प्रतिभा के द्विविध कार्यव्यापार को बारीकी से स्पष्ट किया। उनके अनुसार-कवि मानस में प्रतिभा के द्वारा सर्वप्रथम जो वस्तु स्फुरित होती है, वह बिना तराशी हुई मणि के समान हुआ करती है। तत्पश्चात् कवि उस अनगढ वस्तु को वक्र वाक्यों में ढाल कर सुगठित और सुसंगत बनाता है।

रसवादी तथा ध्वनिवादी आचार्यों की ही भाँति कुन्तक ने प्रतिभा की परमाह्लादकारी, शब्द और अर्थ की चमत्कार तथा वैचित्र्य से परिपूर्ण रचना करने की सामर्थ्य का बार बार उल्लेख किया है। इसके साथ ही साथ प्रतिभा के द्वारा लावण्य, सौकुमार्य और सौभाग्य आदि गुण किस प्रकार महाकवियों के काव्य में आते है, इसे भी उन्होंने सोदाहरण स्पष्ट किया है। कुन्तक के इस विवेचन से व्यावहारिक स्तर पर काव्यप्रतिभा को परखने का मार्ग प्रशस्त हुआ

63. वक्रोक्तिजीवितम् 1/28

है। प्रतिभा सर्वव्यापी और मूलतः एक तत्व होते हुए भी अलग अलग कवियों में भिन्न भिन्न रंग लेकर उल्लसित होती है तथा उसका कार्यव्यापार का क्षेत्र असीमित होता है– यह बात कुन्तक ने काव्य की व्यावहारिक स्तर पर समीक्षा करके स्पष्ट की है।

आनन्दर्धन के ही समान कुन्तक भी कवि प्रतिभा के आनन्त्य और असीमितता निरूपण करते है। महाकवियों के द्वारा अपनी विशिष्ट प्रतिभा के परिस्पन्द की महिमा के कारण वाणी के भण्डार से प्रतिदिन उसका सर्वस्य ग्रहण किया जाने पर भी सर्वथा नवीन और अछूते वाक्यों का समुदाय उनकी रचना प्रस्फुटित होता रहता है। प्रतिभा के नवोन्मेष या नवीनता का निरूपण करते हुए कुन्तक ने एक आनुवंश्य श्लोक उद्धृत करके दो प्रकार की काव्यसृष्टियों का वर्णन किया है–एक तो वह, जिसमें वस्तुओं के भीतर निहित सूक्ष्म सुभग तत्व वाणी द्वारा उद्घाटित होता है, दूसरी वह जिसमें वाणी के द्वारा इस मनोरम जगत् का निर्माण होता है। पहले प्रकार की प्रतिभा वस्तुओं के भीतर अनुस्यूत सूक्ष्म तत्व का साक्षात्कार करती है, जबकि दूसरी उनके बाह्य पर अधिक केन्द्रित रहती है। महिमभट्ट कहतें है कि वस्तु के दो रूप होते है–सामान्य तथा विशेष। प्रतिभा सामान्य रूप को अभिद्येय बनाती है तथा वस्तु विशेष को भी व्यंग्य करती है।

कुन्तक के इस प्रतिभा–विषयक चिन्तन में नये आयाम जुड़ते है। उन्होंने प्रतिभा संबंधी सिद्धान्तों की व्यवहार में समीक्षा करके उपयोगी निष्कर्ष निकाले है। प्रतिभा की द्विविध कार्यप्रणाली तथा उससे काव्यसृष्टि के विवेचन में उन्होंने प्रतिभा–विवेचन को अपना मौलिक योग दिया है।

4.2.9 आचार्य मंगल–

आचार्य राजशेखर ने काव्यमीमांसा में काव्यहेतु के विषय में श्यामदेव तथा मंगल नामक आचार्यों के मत दिये हैं। आज तक इन आचार्यों के कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। 'प्रतिभा' एवं 'व्युत्पत्ति' के विषय में आचार्य मंगल का दृष्टिकोण आनन्दवर्धन से ठीक उल्टा है। आचार्य मंगल जी प्रतिभा की अपेक्षा 'व्युत्पत्ति'

64. 'व्युत्पत्तिः श्रेयसी इति मङ्गलः।' काव्यमीमांसा पंचम अध्याय पृष्ठ 39

को ही काव्य का मूल कारण मानते हैं।[64] क्योंकि व्युत्पत्ति शब्द का अर्थ है बहुज्ञता। व्युत्पत्ति के बल पर ही कवि वचन की एक दशा नहीं होती। वे सब दिशाओं में अव्याहत गति से फैलते है। अभ्यस्त विषय में तथा प्रत्यक्षीकृत विषय में किस कवि की वाणी प्रवृत्त नहीं होती?कवि ने जिस विषय को स्वयं देखा है तथा जिसका अभ्यास स्वयं किया है उसका वर्णन वह किसी न किसी प्रकार ही कर सकता है तथा करता भी है। परन्तु यह क्या कविता है?कवि-वाणी के लिए कोई प्रतिबन्ध नहीं रहता, कोई आवरण नहीं होता। वह इस जगत के प्रत्येक स्थान को, प्रत्येक दिशा को स्पर्श करती हुई प्रवाहित होती है और यह तभी सम्भव है जब कवि शास्त्रों में व्युत्पत्ति प्राप्त करता है।[65] इसके पश्चात आचार्य ने व्युत्पत्ति के बारे में कहा है कि-

कवेः संवियते शक्तिर्व्युत्पत्तया काव्यवर्त्मनि।
वैदग्धीचित्तचित्तानां हेया शब्दार्थगुम्फना।[66]

कहने का आशय यह है कि काव्यरचना में व्युत्पत्ति बल से कवि की असमर्थता छिप जाती है। श्रोता या आलोचक कवि की अलौकिक कल्पना या भाव की ओर आकृष्ट हो जाते हैं और उस कवि की शब्द एवं अर्थयोजना पर ध्यान नहीं देते। अभ्यास के बारे में भी आचार्य मंगल ने कहा कि काव्यनिर्माण के लिए अभ्यास ही प्रधान कारण है।[67]

4.2.10 आचार्य राजशेखर-

आनन्दवर्धन तथा कुन्तक जैसे आचार्यों के आधार पर राजशेखर ने कवि और सहृदय दोनों की प्रतिभा पर विशद विचार किया। राजशेखर के मतानुसार कवि 'सारस्वतं चक्षुः' से सम्पन्न होता है।' यह सारस्वत चक्षु वाणी और मन से अगोचर समाधि द्वारा स्वयं यह निश्चित कर लेता है कि यह विषय पूर्वकवियों

---

65. प्रसरति किमपि कथञ्चन, नाभ्यस्ते गोचरे वचः कस्य।
 इदमेव तत्कवित्वं, यद्वाचः सर्वतोदिकाः।। काव्यमीमांसा अध्याय 5 पृष्ठ 16
66. वही पृष्ठ 39
67. 'अभ्यास' 'इति मगलः' वही पृष्ठ 27

द्वारा स्पष्ट है या अस्पृष्ट? सरस्वती महाकवि को सुषुप्ति की अवस्था में भी काव्यानुकूल शब्दार्थ का ज्ञान करा देती है, किन्तु जो कवित्व शक्ति से हीन हैं, वे जाग्रत अवस्था में भी आँखों के रहते हुए भी अन्धे है। दूसरे कवियों से अदृष्ट सर्वथा नवीन विषयों में उनकी दिव्यदृष्टि होती है। वे अपनी प्रतिभाप्रसूत दिव्य आँखों से जिन नवीन तत्वों को देखते है, उन्हें तीन आँखों वाले शंकर और सहस्र आँखे वाले देवराज इन्द्र भी नहीं देख पाते। सरस्वत चक्षु की यह परिकल्पना आधुनिक मनोविज्ञान में मनस्तत्व के सचेतन और अवचेतन दोनों रूपों को समाहित कर लेती है। सुषुप्ति की दशा में सचेतन मन निद्राधीन होता है, पर अवचेतन मन संकल्प-विकल्प करता रहता है। राजशेखर कहते है- **सुप्तस्यापि महाकवेः शब्दार्थौ सरस्वती दर्शयति।**

'महाकवियों कें मतिदर्पण में समूचा विश्व प्रतिबिम्बित होता है। उन महात्माओं के सामने शब्द और अर्थ स्फुरित होने के लिये होड़ सी बदलते रहते है। जिस वस्तु को समाधिसिद्ध योगी जन दिव्य दृष्टि से देखते है, उसमें कविगण वाणी द्वारा विचरण करते रहते है। महाकवियों में उपर्युक्त सभी अलौकिकताएँ रहती हैं।

आचार्य राजशेखर ने अपने ग्रन्थ 'काव्यमीमांसा' में 'प्रतिभा' और 'व्युत्पत्ति' दोनों को ही श्रेयस्कार माना है-**प्रतिभाव्युत्पत्ति मिथः समवेते श्रेयस्यौ इति यायावरीयः।**[69] इनके अनुसार प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों विभूतियों से सम्पन्न कवि ही श्रेष्ठ है-**प्रतिभाव्युत्पत्तिमांश्च कविः कविरित्युच्यते।**[70]

प्रतिभा और व्युत्पत्ति के आधार पर कवि भी तीन प्रकार का होता है-शास्त्रकवि, काव्यकवि एवं उभय कवि। तीनों में से छोटा किसी को नहीं कहा जा सकता है। आचार्य राजशेखर ने प्रतिभा एवं 'व्युत्पत्ति' को समान स्तर का माना है। किन्तु अन्त में राजशेखर स्पष्ट रूप से केवल 'शक्ति' को ही कारण

---

68. काव्यमीमांसा, अध्याय 12 पृष्ठ 153-54
69. वही चतुर्थ अध्याय पृष्ठ 27
70. वही पंचम अध्याय पृष्ठ 40

घोषित करते हैं, दोनों को नहीं। **'सा शक्तिः केवलं काव्ये हेतु इति यायावरीयः।'**[71] इसका कारण यह है कि जहाँ अन्य आचार्यों ने शक्ति तथा प्रतिभा को समानार्थक रूप से ग्रहण किया है; वहाँ राजशेखर ने कुछ भेद के साथ शक्ति का भेद इस प्रकार निर्धारित किया-**मनसः एकाग्रता समाधि.... व्युत्पद्यते।**[72] अर्थात् 'समाधि अथवा मन की एकाग्रता आभ्यान्तर प्रयत्न है तथा अभ्यास ब्राह्य। दोनों ही 'शक्ति' को उद्भासित करते हैं। रुद्रट की भाँति राजशेखर ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि यही सारस्वत चक्षु अथवा प्रतिभा समाहित चित्त अथवा मन की एकाग्रता से उपलब्ध होता है। राजशेखर ने अपने पूर्ववर्ती श्यामदेव का मत उद्धृत करते हुए मन की इस एकाग्रता को समाधि कहा है। राजशेखर के अनुसार समाधि आभ्यन्तर प्रयत्न है तथा अभ्यास बाह्य। ये दोनों मिलकर शक्ति को उद्भासित करते है। यह शक्ति ही काव्य का एकमात्र सेतु है। इस प्रकार शक्ति को ही हेतु मानकर राजशेखर ने वामन, दण्डी, रुद्रट आदि पूर्ववर्ती आचार्यों के प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास-तीनों के सम्मिलित रूप से काव्य हेतु होने के मत को स्वीकार नहीं किया है। इसके साथ ही, राजशेखर इस शक्ति को प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों से पृथक् मानते है। उनके मत में प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों कविशक्ति के कार्य हैं। जिसमें शक्ति विद्यमान है, उसी में प्रतिभा स्फुरित होती है और उसी को व्युत्पत्ति की भी प्राप्ति होती है। राजशेखर का यह विश्लेषण उनके पहले के आचार्यों की तुलना में अधिक वैज्ञानिक है। उन्होंने शक्ति प्रतिभा के उस मौलिक रूप को कहा है, जो संस्कार रूप में पहले से ही रचनाकार के भीतर विद्यमान रहता है। यह शक्ति काव्यसर्जना के समय शब्द और अर्थ के समूह को कवि के हृदय में जब प्रतिभासित करने लगती है, तब इसी को प्रतिभा कहते हैं। इस प्रकार राजशेखर द्वारा प्रतिपादित प्रतिभा का स्वरूप उनके पूर्ववर्ती आचार्यों की दृष्टि से भिन्न नहीं है। जो शब्दसमूह, अर्थसमुदाय, अलंकार तथा उक्तिमार्ग आदि को हृदय में भासित कराती है, वह प्रतिभा है प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति के द्वारा इस शक्ति का अनेकों रूपों में विचार मिलता है। शक्तिमान् में ही 'प्रतिभा' आती है, शक्तिमान

71. काव्यमींमासा पृष्ठ 27
72. वही प्रथम अध्याय पृष्ठ 27

ही व्युत्पन्न हो सकता है।' इस प्रकार आचार्य राजशेखर की शक्ति एक व्यापक शब्द है, उसकी अपेक्षाकृत प्रतिभा सीमित है क्योंकि इन्होंने कहा है कि- **या शब्दग्राममर्थसार्धमलंकारतन्त्रमुक्तिमार्गमन्यदपि तथा विधमधिहृदयं प्रतिभासयति सा प्रतिभा।... प्रतिभावतः पुनरपश्यतोऽपि प्रत्यक्ष इव।**[73] कहने का आशय है कि प्रतिभा की सीमा विभिन्न शब्दों, विभिन्न अर्थों, अलंकारतन्त्र, उक्तिपथ आदि तक ही सीमित है। तथा वह अदृष्ट पदार्थों को भी प्रत्यक्ष करती है। इस प्रकार यह स्वीकार करना पड़ेगा कि-**शक्तिशब्दश्चायमुपचरितः प्रतिभाने वर्तते।**[74] अर्थात् प्रतिभा एवं शक्ति के इस पृथक्करण में राजशेखर को सफलता नहीं मिली। क्योंकि उन्हें यह मानना पड़ा कि 'शक्ति' शब्द 'प्रतिभा' के अर्थ में ही उपचार से प्रयुक्त किया जाता है।

प्रतिभा विहीन के लिये काव्यगत अर्थ परोक्ष ही बना रहता है तथा प्रतिभावान् जात्यन्ध होकर भी काव्य में वर्णनीय वस्तु को प्रत्यक्ष देख लेता है। इस आधार पर राजशेखर का कहना है कि महाकवि अदृष्ट देशों, द्वीपान्तरों आदि का साक्षात्कार अपनी प्रतिभा से काव्य में करके उनका वर्णन करते हैं।[75] यह प्रतिभा दो प्रकार की है-कारयित्री तथा भावयित्री। कवि के उपयोग में आने वाली प्रतिभा कारयित्री है। इसके तीन भेद है- सहजा, आहार्या और औपदेशिकी। पूर्वजन्म के संस्कारों से होने वाली आहार्या है और तंत्र-मंत्र आदि के उपदेश से होने वाली औपदैशिकी है। उक्त तीनों प्रतिभाओं के आधार पर ही तीन प्रकार के कवि माने जा सकते हैं- सारस्वत, आभ्यासिक एवं औपेदशिक। भावक के उपयोग में आने वाली प्रतिभा **भावयित्री** है। उसके द्वारा भावक या सहृदय कवि के अभिप्राय का भावन करता है। भावयित्री प्रतिभा के द्वारा ही कवि व्यापार सफल बनता है। राजशेखर ने कालिदास के मत को उद्धृत करते हुए कहा है कि कवित्व और भावकत्व दोनों पृथक् वस्तुएँ हैं और कारयित्री तथा भावयित्री दोनों प्रकार की प्रतिभाएँ एक साथ एक व्यक्ति में दुर्लभ हैं।[76]

73. काव्यमींमासा चतुर्थ अध्याय पृष्ठ 27
74. वही चतुर्थ अध्याय पृष्ठ 27
75. वही पृष्ठ 12

राजशेखर ने प्रतिभा के सद्भाव या असद्भाव के आधार पर चार प्रकार के भावक या आलोचक माने हैं- अरोचकी, सतृणाभ्यवहारी, मत्सरी और तत्त्वाभिनिवेशी। अरोचकी की अरोचकिता या अरुचि दो प्रकार की हो सकती है--नैसर्गिकी और ज्ञान से उत्पन्न। नैसर्गिकी अरोचकिता कभी छूटती नहीं है, पर ज्ञान से होने वाली अरोचकिता काव्य के वैशिष्ट्य से रुचि में परिणत हो जाती है। दूसरे प्रकार के सतृणाभ्यवहारी आलोचक साहित्य में सद्, असद् का विवेक नहीं कर पाते। प्रतिभा के अभाव में गुण-दोष का विभाजन न कर पाने के कारण वे बहुत कुछ छोड़ देतें है और बहुत कुछ अग्राह्य भी ग्रहण कर लेते हैं। विवेकशील बुद्धि काव्य के मर्म को ही ग्रहण करती है। तीसरे प्रकार का मत्सरी आलोचक प्रतिभा के सम्पन्न होते हुए भी काव्य के गुणों के संबंध में मौन रहता है। अंतिम चौथे प्रकार का तत्त्वाभिनिवेशी आलोचक सहस्रों के बीच कोई एक ही हुआ करता है।

राजशेखर सहज प्रतिभा के कारण रचनाकार की स्वतंत्रता को भी मानते हैं, जिस पर आगे चलकर अभिनवगुप्त ने बहुत बल देते हुए कहा है कि-

सारस्वतः स्वतंत्रः स्यात् भवेदाभ्यासिको मितः।
औपदेशिकः कविस्तु वल्गु फल्गु च जल्पति।।[77]

कहने का अर्थ है कि सारस्वत कवि स्वतंत्र होता है, आभ्यासिक सीमित तथा औपदेशिक सारहीन बात कहता है।

राजशेखर शक्ति को काव्य का एकमात्र हेतु मानते हैं, पर साथ ही उन्होंने काव्य की आठ माताएँ बतायी हैं, जिनमें से प्रतिभा भी एक है-

स्वास्थ्य प्रतिभाभ्यासो भक्तिर्विदद्वत्कथा बहुश्रुतता।
स्मृतिर्दार्द्यमनिर्वेदश्च मातरोष्टो कवित्वस्य।[78]

यहाँ पर काव्यमाता से राजशेखर का आशय संभवतः काव्य को पुष्ट और

76. काव्यमींमासा पृष्ठ 12-14
77. वही पञ्चम अध्याय।
78. वही 10/1

परिपक्व बनाने वाली वस्तुओं से है।

4.2.11 आचार्य भट्टतोत-

आनन्दवर्धन, कुन्तक तथा राजशेखर जैसे आचार्यों ने जब प्रतिभा के स्वरूप को कवि व्यापार के संदर्भ में स्पष्ट किया, तो अभिनवगुप्त और उनके आद आने वाले आचार्यों ने उसकी दार्शनिक भूमिका का भी आकलन किया। अभिनव काव्यशास्त्र के क्षेत्र में अपने गुरु दार्शनिक भूमिका का भी आकलन किया। अभिनव काव्यशास्त्र के क्षेत्र में अपने गुरु भट्टतोत की मान्यताओं से सर्वाधिक प्रभावित हुए थे। उन्होंने प्रतिभा के संबंध में **'प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।'** भट्टतोत के दिये इस लक्षण को उद्धृत करते हुए कहा है कि-

प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।
तदनुप्राणनाजीवद् वर्णनानिपुणः कविः॥[79]

सम्भवतः भट्टतोत ही पहले काव्यशास्त्री हैं, जिन्होंने नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा को प्रतिभा बताकर आनन्दवर्धन आदि काव्यशास्त्रियों के द्वारा निरूपित काव्यप्रतिभा के नवीनता या मौलिकता और काव्यार्थ का अविराम आदि तत्त्वों का समाहार नव और उन्मेष-इन दो शब्दों में किया तथा प्रज्ञा को ही प्रतिभा बताकर उसकी योग दर्शन संबंधी भूमिका की ओर भी संकेत किया।

4.2.12 आचार्य अभिनवगुप्त-

अभिनवगुप्त ने भट्टतोत की इस परिभाषा को तो उद्धृत किया ही, उन्होंने प्रतिभा को **'अपूर्वनिर्माणक्षमा प्रज्ञा'** कहकर उसे और भी सुस्पष्ट किया। अन्यत्र शक्ति और प्रतिभा को पर्याय स्वीकार करते हुए अभिनवगुप्त ने कहा है कि- **शक्तिः, प्रतिभानम्, वर्णनीयवस्तुनूतनोल्लेखशालित्वम्।**[80] कहने का आशय है कि वर्णनीय वस्तु का नवीन प्रकार से उल्लेख करने की शक्ति या सामर्थ्य ही प्रतिभा है।

जिस प्रकार योग दर्शन में ऋतम्भरा प्रज्ञा को ही साधक की एक भूमिका माना

79. माणिक्यसूरिकृतकाव्यकौतुक की टीका में भी उद्धृत
80. ध्वन्यालोकलोचन

गया है, सामान्य प्रज्ञा को नहीं, उसी प्रकार भट्ट तोत की भी मान्यता है कि–

द्वे वर्त्मनी गिरां देव्याः शास्त्रं च कविकर्म च।
प्रज्ञोपज्ञं स्योराद्यं प्रतिभोद्भवमन्तिमम्।।[81]

अर्थात् प्रतिभा सामान्य कोटि की प्रज्ञा नहीं है। वाणी के दो मार्ग हैं– शास्त्र और कविकर्म। प्रथम की सृष्टि प्रज्ञा से होती है, जबकि द्वितीय की प्रतिभा से। इस प्रकार प्रज्ञा का विशिष्ट रूप प्रतिभा है। उसका वैशिष्ट्य क्या है? इसके उत्तर में अभिनवगुप्त ने कहा है कि रसाविष्ट होने के कारण विशद और सुन्दर काव्य निर्माण की क्षमता ही उसका वैशिष्ट्य है।[82] प्रज्ञा के उन्मेष की बात कहकर भट्टतोत और अभिनवगुप्त ने प्रतिभा के कार्य व्यापार की ओर भी संकेत किया है। प्रतिभा का व्यापार मनुष्य के द्वारा यत्नसाध्य नहीं हैं प्रातिम उन्मेष के समय काव्य की वस्तु कविमानस में समुच्छलित होने लगती है। अभिनवगुप्त ने कहा है कि– **एवं चर्वणोचितशोकस्थायिभावात्मककरुणरससममुच्चलन-स्वभावत्वस्ति काव्यस्यात्मा।**[83] अर्थात् चर्वणा के योग्य स्थायी भावात्मक जो रस कवि के भीतर समुच्छलित होता है, वही काव्य की आत्मा है। इस प्रसंग में अभिनव ने हृदयदर्पण नामक अनुपलब्ध ग्रंथ से अत्यन्त सुंदर पंक्ति उद्धत की है–**यावत्पूर्णो न चैतेन तावन्नैव वमत्यमुम्।**[84] अर्थात् कवि के मानस में संवेद्य भाव जब तक भर नहीं जाता, तब तक वह उसे व्यक्त नहीं करता। अपनी प्रतिभा संबंधी मान्यताओं का समाहार अभिनवगुप्त ने लोचन के मंगलाचरण में किया है–

अपूर्वं यद् वस्तु प्रथयति विना कारणकलां
जगद् ग्रावप्रख्यं निजरसमरात्सारयति च।
क्रमात्प्रख्योपाख्याप्रसरसुभगं भासयति तत्।
सरस्वत्यास्तत्त्वं कविसहृदयाख्यं विजयते।।[85]

81. ध्वन्यालोक लोचन
82. ध्वन्यालोकलोचन पृष्ठ 94
83. वही पृष्ठ 88
84. वही पृष्ठ 88
85. वही पृष्ठ 67

जो कारण सामग्री के बिना अपूर्व (सर्वथा नवीन) वस्तु को उत्पन्न करता है और पत्थर के समान (नीरस) जगत् को अपने रसभार से सारवान् बना देता है तथा क्रम से **प्रख्या** (कवि की प्रतिभा) और **उपाख्या** (वचन) के प्रकार से **सुभग** (हृद्य) होता हुआ वस्तु जगत् को भासित करता है, वह कवि और सहृदय द्वारा **आख्यात** सरस्वती का तत्त्व (काव्य) विजयी है।

जिस प्रकार अभिनवगुप्त को कवि और भावक दोनों की प्रतिभा की अलौकिकता स्वीकार्य है, काव्य में जिस प्रकार रस और भाव की अभिव्यंक्ति कवि की प्रतिभा से होती है, उसी प्रकार कवि प्रतिभा से पवित्र की हुई सहृदय की प्रतिभा के द्वारा वही रस या भाव द्योतित होता है।[86] इस प्रकार सहृदय की प्रतिभा की सहकारिता ही काव्य की अभिव्यजंना का प्राण है। ध्वनन या ध्वनि भावक की इस प्रतिभा से ही अनुप्राणित होती है।

4.2.13 आचार्य महिमभट्ट–

विचारणीय विषय है कि कवि की प्रतिभा वैयक्तिक रूप से जगत् के रहस्यों का दर्शन किस प्रकार करती है? इसका समुचित उत्तर दिया है महिमभट्ट ने। भट्ट जी नैयायिक थे और ध्वनि का अनुमान के भीतर अन्तर्भाव सिद्ध कर उन्होंने आलोचना–जगत् में विपुल ख्याति अर्जन की है। अतः उन्होंने 'प्रतिभा' की मीमांसा के अवसर पर पदार्थ के सामान्य रूप तथा विशेष रूप के वर्णन में नैयायिक विलक्षणता का प्रतिपादन किया है–

विशिष्टमस्य यद् रूपं तत् प्रत्यक्षस्य गोचरम्।
स एव सत्कविगिरां गोचरं प्रतिभाभुवाम्॥[88]

अभिनव के इस विवेचन से परवर्ती काव्यशास्त्री अत्यधिक प्रभावित हुए। भट्टतोत आदि आचार्यों की मान्यताओं के आधार पर महिमभट्ट ने प्रतिभा की विशेषताओं का निरूपण करते हुए कहा है कि–

---

86. ध्वन्यालोकलोचन पृष्ठ 61
87. वही पृष्ठ 68
88. व्यक्तिविवेक द्वितीय विमर्श 110

रसनुगुणशब्दार्थचिन्तास्तिमितचेतसः।
क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः॥
सा हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते।
येन साक्षात्कारोत्येष भावांस्त्रैलोक्यवर्तिनः॥[89]

अर्थात् वस्तु का जो विशिष्ट रूप है, उसे प्रतिभा प्रत्यक्ष के समान दिखा देती है। जब कवि का चित्त रस के अनुकूल शब्द और अर्थ की चिंता में निश्छल हो जाता है, उस क्षण उसके भीतर उत्पन्न होने वाली प्रज्ञा ही प्रतिभा है। यह प्रतिभा शंकर के तृतीय नेत्र के समान होती है, जिसके द्वारा कवि तीनों लोकों के पदार्थों का साक्षात्कार करता है। महिमभट्ट का तात्पर्य है कि पदार्थ का विशिष्ट रूप ही प्रत्यक्ष का गोचर होता है और वही सत्कवि की प्रतिभाजनित वाणी का भी गोचर होता है। पदार्थ के दो रूप होते हैं– सामान्य और विशिष्ट। सामान्य रूप तज्जातीय समस्त पदार्थों में रहने वाला रूप है। विशिष्ट रूप उसी विशिष्ट पदार्थ में अन्तर्निविष्ट होने वाला रूप है। साधारण जन पदार्थ के सामान्य रूप के ही ग्रहण करने में व्यस्त रहता है। उतने से ही उसके योग क्षेम का निर्वाह होता है, उसका लोक–व्यवहार उतने से ही सुचारु रूप से चलता है। उससे अधिक जानने की न उसमें क्षमता होती है और न उसे अवसर ही मिलता है। पदार्थ के इस विशिष्ट रूप का अवगमन कवि करता है और वह भी प्रतिभा के सहारे ही। जब कवि सरस काव्य–चिन्तन में दत्तचित्त होकर समाहित होता है, रसानुकुल शब्द और अर्थ की चिन्ता के हेतु उसका चित्त एकाग्र हो जाता है, तब उसकी प्रजा क्षण भर के लिये पदार्थ के सच्चे स्वरूप को स्पर्श करती हुई जागरित होती है। इसी के द्वारा कवि त्रैलोक्यवर्ती भावों को–तीनों लोकों में होनेवाली घटनाओं तथा वस्तुओं का–साक्षात्कार करता है। भगवान् त्रिलोचन के तृतीय लोचन (ज्ञाननेत्र) के उन्मीलन के समान कवि की उन्मिलित प्रतिमा–चक्षु के सामने जगत् का कोई भी पदार्थ अनालोकित तथा अनवज्ञात नहीं रह सकता। महिमभट्ट का गूढ़ तात्पर्य यही है कि प्रतिभा के दृष्टिपक्ष की सार्थकता इसी कारण है कि कवि प्रातिभचक्षु से पदार्थ के अन्तर्निविष्ट तथ्यरूप का निरीक्षण करने में समर्थ होता है।

---

89. व्यक्तिविवेक 2/111-112

'स्वाभावोक्ति' अलंकार है या अलंकार्य?इस विषय का भी चिन्तन प्रस्तुत विषय से सम्बन्ध रखता है। कवि को काव्य में सौन्दर्य उत्पन्न करने के लिये सामान्य जीवन से बाहर जाने की आवश्यकता ही नहीं होती। कवि के सामने सर्वत्र ही प्रत्येक वस्तु में-क्षुद्रतम पुष्प से लेकर उन्नततम आकाश तक सौन्दर्य झलकता रहता है। कवि को यदि प्रतिभा-सम्पन्न नेत्र है तो वह उस सौन्दर्य की झलक देखता है, परखता है और अपने काव्य में निबद्ध करता है। अलंकार के चमत्कार से विहीन भी यह स्वाभाविक वर्णन नानाप्रकार के करामाती वर्णनों से कहीं अधिक चमत्कारजनक तथा हृदयावर्जक होता है। इसीलिये कुन्तक की मार्मिक उक्ति है-**भावस्वभाप्राधान्यन्यक्कृताहार्यकौशलः।**[90] पदार्थ के स्वभाव की प्रधानता आहार्यकौशल को, अलंकार से सज्जित करने की कला को, दूर भगा देती है। इसीलिये अत्यन्त प्राचीन काल से हमारे आलोचकों ने 'स्वभावोक्ति' को काव्य के भूषण-रूप में अंगीकार किया है। स्वभावोक्ति में कवि अपनी ओर से कुछ भी जोड़ता-बटोरता नहीं, वह वस्तु को उसी रूप में अंकित करता है जिस रूप में वह होती है। अवश्य ही प्रतिभा के कारण ही उसे इस कार्य में अपूर्व सफलता मिलती है।

4.2.14 आचार्य हेमचन्द्र-

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने ग्रन्थ 'काव्यानुशासन' में काव्य निर्माण का प्रधान हेतु 'प्रतिभा' को माना है-**प्रतिभास्य हेतुः।**[91] इसके बाद इन्होंने प्रतिभा की परिभाषा को स्पष्ट करते हुए कहा है कि-**प्रतिभा नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा।**[92] नये-नये भावों और विचारों से युक्त 'प्रज्ञा' ही 'प्रतिभा' कहलाती है। यह प्रतिभा को काव्य का प्रधान हेतु माना है। व्युत्पत्ति और अभ्यास को संस्कारक माना है न कि उत्पादक। इन्होंने प्रतिभा के दो भेद किये हैं- सहजा और औपाधिकी। अभिनव के आधार पर प्रतिभा की स्वयंप्रकाश्यता और चैत्यमयता का वर्णन करते हुए हेमचन्द्र ने कहा है- **सवितुरिव प्रकाशस्वभावस्यात्मनोऽनुभवतलमिव**

90. वक्रोक्तिजीवितम् 1/26
91. काव्यानुशासन प्रथम अध्याय पृष्ठ 5
92. वही प्रथम अध्याय पृष्ठ 6

ज्ञानावरणीयाद्यावरणं तस्योदितस्य क्षमेऽनुदितस्योपशमे च यः प्रकाशविर्भावः सा सहजा प्रतिभा। मन्त्रोदेरौपाधिकी।[93] अर्थात् 'जिस प्रकार प्रकाश स्वभाव आत्मा के ऊपर अज्ञान के विभिन्न आवरण पड़ जाते हैं। उन आवरणों के क्षय अथवा उपशमन के पश्चात् जो चैतन्य या प्रकाश उद्भासित हो उठता है, वही प्रतिभा है। आत्मा के प्रकाश का यह आविर्भाव स्वतः सहज भी हो सकता है और मंत्र आदि के द्वारा भी।' इस प्रकार इस आधार पर सहजा और औपाधिक- ये दो प्रकार की प्रतिभाएँ होती हैं, जिनमें हेमचन्द्र की दृष्टि में सहजा प्रतिभा की काव्योचित है। ये दोनों ही प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास द्वारा संस्कारित होती है। व्युत्पत्ति और अभ्यास प्रतिभा के संस्कारक हैं उत्पादक नहीं। देखा जाता है कि प्रतिभाहीन व्यक्ति में व्युत्पत्ति और अभ्यास विफल हो जाते हैं।[94] आचार्य ने 'व्युत्पत्ति' को बताया है कि लोक व्यवहार, कामशास्त्र, छन्दशास्त्र, शब्दकोष, दर्शन, ज्योतिष आदि शास्त्रों का ज्ञान तथा काव्य परम्पराओं का ज्ञान ही व्युत्पत्ति है।[95] इसके अनन्तर आचार्य ने अभ्यास को बताया है कि काव्यविदों के पर्यवेक्षण में काव्यरचना में बार-बार प्रवृत्त होना ही 'अभ्यास' है।[96] एक तरह से व्युत्पत्ति और अभ्यास प्रतिभा के संस्कारक हैं उत्पादक नहीं। यदि व्यक्ति में प्रतिभा नहीं है तो उसके लिए व्युत्पत्ति और अभ्यास विफल हो जाता है। किन्तु यदि प्रतिभा है तो वह व्युत्पत्ति और अभ्यास का संस्कारक बन जाता है।

इस प्रकार अनावृत चैतन्य को प्रातिभ कहकर हेमचन्द्र ने उसकी आत्मसाक्षात्कार वाली आध्यात्मिक भूमिका को स्पष्ट किया है। अपने मत की पुष्टि में उन्होंने दो प्राचीन श्लोक उद्धृत किये हैं-

---

93. काव्यानुशासन प्रथम अध्याय पृष्ठ 6
94. व्युत्पत्यभ्यासौ वक्ष्यमाणौ ताभ्यां संस्करणीया। अतएव न तौ काव्यस्य साक्षात्कारणं प्रतिभौपकारिणौ तु भवतः। दृश्येते हि प्रतिभाहीनस्य विफलौ व्युत्पत्तयभ्यासौ।। वही प्रथम अध्याय पृष्ठ 6
95. लोकशास्त्रकाव्येषु निपुणता व्युत्पत्तिः। वही प्रथम अध्याय पृष्ठ 8
96. काव्यविच्छिया पुनः पुनः प्रवृत्तिरभ्यासः। वही प्रथम अध्याय पृष्ठ 8

नानृषिः कविरित्युक्त ऋषिश्च किल दर्शनात्।
विचित्रभावधर्मांशतत्त्वप्रख्या च दर्शनम्।
स तत्त्वदर्शनादेव शास्त्रेषु पठितः कविः।
नोदिता कविता लोके यावज्जाता न वर्णना।।[97]

हेमचन्द्र ने प्राचीन आचार्यों के मत के अनुरूप विकल्पात्मक और संकल्पनात्मक इन दो प्रकार के ज्ञानों में संकल्पानात्मक ज्ञान को ही प्रतिभा का धर्म माना है। विकल्पानात्मक ज्ञान बुद्धि का धर्म है, जबकि संकल्पनात्मक ज्ञान के अन्तर्गत विषयों का वह सूक्ष्म बोध होता है, जिसे कभी-कभी बुद्धि भी ग्रहण नहीं कर पाती। इसी को निर्विकल्प ज्ञान भी कहा गया है।[98] पाश्चात्य आलोचना की दृष्टि से इसे प्रातिभ ज्ञान अथवा **'इंट्यूटिव्ह नालेज'** कह सकते हैं।

4.2.15 आचार्य मम्मट-

अभिनवगुप्त के पश्चात् मम्मट ने अपने पूर्ववर्ती सभी आचार्यों की मान्यताओं का समन्वय करते हुए शक्ति या प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास इन तीनों को काव्य का हेतु माना है-

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तद्भव।।[99]

अर्थात् कवि में रहने वाली उसकी स्वाभाविक प्रतिभा रूप 'शक्ति', लोकव्यवहार, शास्त्र तथा काव्य आदि के पर्यालोचन से उत्पन्न 'निपुणता' और काव्य की रचनाशैली तथा आलोचनापद्धति को जानने वाले गुरु की शिक्षा के अनुसार काव्यनिर्माण का 'अभ्यास' होता है। ये तीनों मिलकर समष्टिरूप से उस काव्य के विकास या उद्भव के कारण हैं। आचार्य मम्मट ने **प्रतिभा** के बारे में कहा है कि-

---

97. काव्यानुशासन पृष्ठ 8
98. काव्यविवेक पृष्ठ 380
99. काव्यप्रकाश 1/3

शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः यां विना काव्यं न प्रसरेत्, प्रसृतं वा उपहसनीयं स्यात्।[100]

कहने का आशय यह है कि कवित्व का बीजभूत संस्कार विशेष 'प्रतिभा' या शक्ति कहलाती है। जिसके बिना काव्य बनता ही नहीं है। अथवा बन जाने पर भी उपहास के योग्य होता है।

इसके बाद आचार्य ने निपुणता अर्थात् व्युत्पत्ति के बारे में कहा है कि **लोक** अर्थात् स्थावरजङ्गमरूप संसार के व्यवहार को, **शास्त्र** अर्थात् छन्द, व्याकरण संज्ञा शब्दों के अभिधान के कोश अर्थात् अमरकोश आदि को **कला** अर्थात् आचार्य भरत, कोहल आदि प्रणीत नृत्यगीत आदि चौंसठ प्रकार की कलाओं के प्रतिपादक लक्षणग्रन्थों, **चतुवर्ग** अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के प्रतिपादक ग्रन्थ हाथी घोड़े आदि के लक्षणों के प्रतिपादक शालिहोत्र आदि रचित ग्रन्थ एवं खड्ग आदि के लक्षणग्रन्थों और **महाकवि सम्बन्धी** अर्थात् महाकवियों द्वारा रचे गये काव्यों के आदि पद के ग्रहण से सूचित 'इतिहास' आदि के द्वारा उत्पन्न विशेष प्रकार का ज्ञान **'व्युत्पत्ति'** है।[101]

आचार्य मम्मट ने **'अभ्यास'** के बारे में कहा है कि जो काव्य की रचना करना और उसकी विवेचना करना चाहते हैं, उनके उपदेश के अनुसार अपने आप नवीन श्लोकादि के निर्माण करने और प्राचीन कवियों के श्लोक में जोड़-तोड़ करने की बार-बार प्रवृत्ति ही अभ्यास है।[102] इस प्रकार आचार्य मम्मट ने शक्ति, निपुणता तथा अभ्यास तीनों को समष्टि रूप से काव्य का कारण है। ये तीनों अलग-अलग नहीं, ये तीनों ही उस काव्य के उद्भव अर्थात् निर्माण और विकास में कारण है।

100.काव्यप्रकाश 1/3 वृत्तिभाग

101. लोकस्य स्थावरजङ्गमात्मकस्य लोकवृत्तस्य, शास्त्राणां छन्दोव्याकरणाभिधानकोशकला चतुवर्गगजतुरगखड्गादिलक्षणग्रन्थानाम्, काव्यानां च महाकवि सम्बन्धिनाम्, आदिग्रहणादितिहासादीनां च विमर्शनाद व्युत्पत्तिः। वही 1/3 वृत्ति भाग

102. काव्यं कर्तुं विचारयितुं च ये जानन्ति तदुपदेशेन करणे योजने च पौनः पुन्येन प्रवृत्तिरिति तत्र समुदिताः, न तु व्यस्ताः, तस्य काव्योस्योद्भवे निर्माणे समुल्लासे च हेतुर्न न हेतवः। वही 1/3 वृत्ति भाग

4.2.16 आचार्य विद्यानाथ-

वामन आदि आचार्यों की शब्दावली में उन्होंने प्रतिभा को कवित्व का बीज कहा, जिसके बिना काव्य का उद्भव नहीं हो सकता। विद्यानाथ ने अपनी एकावली में भी इसी मत को स्वीकार किया है-

प्रतिभा बहुशास्त्रदशिता बहुता काव्यविदो च शिक्षया।
मुहुरभ्यसनं मनीषिभिः कथितं कारणमस्य सम्भवे।।[103]

इस कारिका की वृत्ति में अपने मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए विद्यानाथ ने कहा है- जिसके द्वारा शब्द, अर्थ, गुण और अलंकार प्रतिभात होते हैं, वह प्रतिभा या शक्ति है, जिसके बिना कवि काव्य करने में समर्थ नहीं होता। टीकाकार मल्लिनाथ ने यहाँ प्रतिभात होने का अर्थ स्फुरित होना किया है, जिससे प्रतिभा की काव्यगत वस्तुओं को सहज अनायास रूप में प्रकट करने की शक्ति ध्वनित होती है। यद्यपि मम्मट की भाँति विद्यानाथ ने प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास इन तीनों को सम्मिलित रूप से काव्य का कारण माना है, किन्तु वृत्ति में उन्होंने स्पष्ट किया है कि तीनों में प्रतिभा का सर्वप्रथम उल्लेख व्युत्पत्ति (और अभ्यास) की अपेक्षा उसकी प्रधानता बताने के लिये किया गया है, क्योंकि प्रतिभा व्युत्पत्ति की कमी से होने वाले दोषों को दूर करने में सक्षम है।[104]

4.2.18 आचार्य पंडितराज जगन्नाथ-

अभिनवगुप्त के पश्चात् संस्कृत काव्यशास्त्र के दिग्गज आचार्यों में 17 वीं शती के पण्डितराज आते हैं। उन्होंने अपने मौलिक चिन्तन द्वारा पूर्ववर्ती आचार्यों की कई मान्यताओं पर प्रश्न चिन्ह लगाया। उन्होंने प्रतिभा के विवेचन में भी इसी मौलिकता का परिचय दिया है। आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ ने रसगंगाधर में 'प्रतिभा' का पर्याप्त वस्तुवादी ढंग से परिचय दिया है। काव्य की घटना अथवा रचना के अनुकूल शब्द तथा अर्थों की उपस्थिति पर बल दिया है। पंडितराज जगन्नाथ अपने ग्रन्थ रसगंगाधर में काव्य का स्वरूप प्रस्तुत करने के बाद

103. एकावली 1/12
104. वही पृष्ठ 20-21

काव्यहेतु 'प्रतिभा' के विषय में लिखा है कि काव्याह्लाद के लिए रमणीय अर्थ की अनिवार्यतः अपेक्षा है। उसके लिए उपर्युक्त शब्द एवं अर्थ की योजना उपेक्षित है। उस काव्यार्थभूत रमणीयार्थ की योजना के लिए ऐसे प्रतिपादित शब्दों की आवश्यकता है, जो अपनी समस्त शक्तियों तथा अर्थों के साथ उपस्थित हो सके।

रमणीयार्थ ही काव्यार्थ कहलाने की क्षमता रखता है। यह रमणीयार्थ भावोद्बोधक, कल्पनोद्बोधक एवं बौद्धिक चेतना का उद्बोधक होते हुए आनन्ददायी हो सकता है। किसी काव्य के स्वरूपविधान के लिए ये ही वास्तविक आवश्यकतायें हैं। ये समस्त आवश्यकताऐं शब्द एवं अर्थ के दो धरातलों में सम्मिलित हैं। अतः पण्डितराजजगन्नाथ अत्यन्त सारगर्भित शब्दों में 'प्रतिभा' का लक्षण प्रस्तुत करते हैं- **'सा हि काव्यघटना-नुकूलशब्दार्थोपस्थितिः।'**[105] अर्थात् काव्य की संघटना अथवा रचना के अनुकूल शब्दों और अर्थों का संयोजन ही प्रतिभा का कार्य है। यानि जिनसे काव्य निर्माण हो सके, उनकी उपस्थिति को अर्थात् काव्यनिर्माण के लिए जहाँ जिस शब्द की और जिस अर्थ की आवश्यकता हो, वहाँ तत्काल इसका स्मरण हो जाना 'प्रतिभा' है।

रसगंगाधर में प्रतिपादित प्रतिभा का कारण- काव्यकारणीभूत प्रतिभा का क्या कारण है, इस पर आचार्य ने प्रतिभा के दो कारण माना है- प्रथम तो किसी देवता अथवा किसी महात्मा पुरुष की प्रसन्नता से उत्पन्न भाग्यविशेष और दूसरा विलक्षण (विविधलोकाचार, शास्त्र, काव्य इतिहास आदि के पर्यालोचन से होने वाली) व्युत्पत्ति (निपुणता-विशिष्टता ज्ञान) और पुनः-पुनः काव्य बनाने का 'अभ्यास' कारण है।

अदृष्ट कारण-

आचार्य पंडितराज जगन्नाथ अपने ग्रन्थ रसगंगाधर में लिखा है कि प्रतिभा के प्रति अदृष्ट (विलक्षण शक्ति), व्युत्पत्ति और अभ्यास पृथक्-पृथक् कारण हैं,

105.रसगंगाधर प्रथम आनन पृष्ठ 10

सम्मिलित रूप से नहीं। सर्वप्रथम प्रश्न उठता हैं कि अदृष्टोत्पत्ति के क्या कारण हो सकते हैं? इसका उत्तर पण्डितराज जगन्नाथ ने दिया है- **"तस्याश्च हेतुः कश्चिद् देवतामहापुरुषप्रसादादिजन्यम्, क्वचिद् विलक्षणव्युत्पत्ति काव्यकारणाभ्यासौ।"**[106] यानि किसी में देवता या महात्माओं की कृपा से नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धिरूपा प्रतिभा उत्पन्न होती है और किसी में व्युत्पत्ति तथा अभ्यास से प्रतिभा उत्पन्न होती है दोनों ही प्रतिभाओं के द्वारा कार्य यह होता है कि काव्यधारा प्रवाहित हो उठती है तथा उक्त प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति काव्यनिर्माण में सफल सिद्ध होता है। किन्तु कहीं-कहीं पर व्युत्पत्ति तथा अभ्यास के बिना भी किसी-किसी में ही काव्यजनन की प्रतिभा दिखायी पड़ती है। इस बात को और अधिक स्पष्ट पंडितराज जगन्नाथ ने कहा है कि- **"न तु त्रयमेव, बालादेस्तौ विनाऽपि केवलान्महापुरुषप्रसादंपि प्रतिभोत्पत्तेः।"**[107] कहने का तात्पर्य यह है कि अदृष्ट, व्युत्पत्ति और अभ्यास ये तीनों मिलकर प्रतिभा को उत्पन्न नहीं करते है बल्कि कहीं अदृष्ट स्वतन्त्र रूप से प्रतिभा का उत्पादन होता है, और कहीं व्युत्पत्ति और अभ्यास मिलकर प्रतिभा की सृष्टि करते हैं। यदि तीनों मिलकर ही प्रतिभा की सृष्टि करें, तब तो किसी बालक में महापुरुषों के कृपापात्र से जो प्रतिभा उत्पन्न होती देखी गई है जैसे **"कविकर्णपूर"** के विषय में इस तरह की किंवदन्ती है।[108] वहाँ यह कहा गया कि कार्यकारणभाव व्यभिचरित हो जायेगा, अर्थात् जिस बच्चे ने कभी व्युत्पत्ति नहीं बनाई, तथा अभ्यास भी नहीं किया किन्तु फिर भी उसमें केवल महापुरुष की कृपा से प्रतिभा उत्पन्न हो गई। इस प्रकार यहाँ पर सम्मिलित कारणवादी की दृष्टि से कारण के बिना कार्य हुआ है, इसीलिए इसी को व्यभिचार कहते हैं। अदृष्ट आदि समुदित कारणतावादी द्वारा कहे गये व्यभिचार-वारण के लिए उपस्थित किये गये समाधान का खण्डन करते हुए पण्डितराज जगन्नाथ जी ने कहा कि- **"न च तत्र तयोर्जन्मान्तरीययोः कल्पनं वाच्यम्**

106. रसगंगाधर प्रथम आनन पृष्ठ 29

107. वही प्रथम आनन पृष्ठ 30

108. पञ्चवर्षकस्य मूकस्य कर्णपूरस्य मुखे प्रसव्य श्रीकृष्णचेतन्येमाङ्गुल्यग्रं प्रवेश्य सद्यो विलक्षणा कविताशक्तिराविर्भावितेति जनश्रुति। वही प्रथम आनन पृष्ठ 30

गौरवान्मानाभावात् कार्यस्यान्यथाऽप्युपपत्तेश्च।"[109] अर्थात् जहाँ कहीं भी व्युत्पत्ति- अभ्यास के बिना अदृष्ट मात्र से प्रतिभा उत्पन्न होती दिखाई पड़ती है, वहाँ पर भी अदृष्ट मात्र से प्रतिभा उत्पन्न नहीं हुई है, अपितु अदृष्ट, व्युत्पत्ति, अभ्यास इन तीनों से ही यद्यपि उसने इस जन्म में व्युत्पत्ति तथा अभ्यास नहीं किये, तथापि जन्मान्तर (पूर्वजन्म) में अवश्य किये होंगे, ऐसी कल्पना करते है तो वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि पूर्वजन्मगत व्युत्पत्ति तथा अभ्यास की सिद्धि अनुमान प्रमाण से ही तो करेंगे और अनुमिति सामग्री जुटाने में गौरव होगा। दूसरी बात यह है कि इन तीनों को सम्मिलित रूप में प्रतिभा के प्रति कारण मानने में प्रमाण नहीं है। यदि आप कहें कि प्रमाण हैं क्यों नहीं, कार्यानुपपत्ति भी तो एक प्रमाण है- अर्थात् तीनों को कारण बिना माने कार्य होता नहीं है, अतः तीनों को कारण मानिये? परन्तु यह कथन भी संगत प्रतीत नहीं होता। इसका कारण यह है कि जब अदृष्ट मात्र से कार्य होता दिखता है, तब कार्यानुपपत्तिरूप प्रमाण का यहाँ अवसर ही नहीं है। इसका उत्तर स्वयं पण्डितराज देते हुए कहा है कि- **"लोके हि बलवता प्रमाणेनागमादिना सति कारणतानिर्णये पश्चादुपस्थितस्य व्यभिचारस्य वारणाय जन्मान्तरीयन्मयथाऽनुपपत्तया कारणं धर्माधर्मादि कल्पयते। अन्यथा तु व्यभिचारोपस्थित्या पूर्ववृत्तकारणतानिर्णये भ्रमत्वप्रतिपत्तिरेव जायते।"**[110] अर्थात् नास्तिक ग्रन्थों में मंगल के बिना समाप्ति हो जाने से उपस्थित व्यभिचारवारण के लिए जैसे आचार्यों ने जन्मान्तरीय मंगल की कल्पना करने में होने वाले गौरव को सह्य माना है, उसी तरह यहाँ जन्मान्तरीय व्युत्पत्ति एवं अभ्यास की कल्पना करने में होने वाले गौरव को सहय माना है। इस पर लोग कहते हैं कि दृष्टान्त तो आपने खोज निकाला परन्तु यहाँ पर दृष्टान्त लागू नहीं हो सकता क्योंकि वेदादि प्रबल प्रमाणों से जब कार्य के प्रति कोई कारण निश्चित हो चुका रहता है और किसी स्थलविशेष पर उस कार्यकारण भाव में व्यभिचार उपस्थित होता है तब पहले जन्मान्तरीय कारण की कल्पना की जाती है, परन्तु जहाँ वेदादि प्रमाण से

109रसगंगाधर प्रथम आनन पृष्ठ 30

110. वही प्रथम आनन पृष्ठ 31

कार्यकारण भाव निश्चित नहीं हुआ है लेकिन स्वयं लोग एक प्रकार के कार्यकारण भाव को मान बैठे हैं, वहाँ पर यदि पीछे किसी जगह व्यभिचार आपतित होता है तब यही समझा जाता है कि हम लोगों का कार्य-कारणभाव ज्ञान सही नहीं था लेकिन एक भ्रम था अर्थात् मंगल समाप्ति के प्रति कारण है, ऐसा कार्यकारण भाव वेदबोधित है, अतः नास्तिक ग्रन्थ में व्यभिचार उपस्थित होने पर जन्मान्तरीय व्युत्पत्ति तथा अभ्यास की कल्पना नहीं की जाती है, वरन् समुदित कारणता ज्ञान भ्रम हैं- कार्यजनन में असमर्थ है यही मान्य होगा।

फिर भी मीमांसा दृष्टिकोण का अतिवाद नहीं है। मीमांसक बिना अदृष्ट के एक पग भी आगे नहीं बढ़ना चाहता, ऐसी बात नहीं है। इसी अदृष्टमात्र कारणतावाद का निराकरण करते हुए पण्डितराज जगन्नाथ ने कहा है कि- **"नऽपि केवलमदृष्टमेव कारणमित्यपि शक्यं वदितुम् कियन्तञ्चित कालं काव्यं कर्तुमशक्नुवतः कथमपि सञ्जातयोव्युत्पत्त्यभ्यासयोः प्रतिभायाः प्रादुर्भावस्य दर्शनात्।"**[111] अर्थात् यदि कोई कहे कि व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को पृथक् कारण मानने की आवश्यकता ही क्या है? अदृष्ट मात्र को सब जगह प्रतिभा के प्रति कारण मान लीजिए तो वह भी ठीक नहीं है। इसका कारण यह है कि कुछ मनुष्य ऐसे भी होते हैं जो बहुत काल तक काव्य बनाना नहीं जानते लेकिन कुछ समय के बाद जब किसी तरह व्युत्पत्ति तथा अभ्यास हो जाता है, तब उनमें प्रतिभा उत्पन्न हो जाती है तथा वे काव्य निर्माण करने लगते हैं अर्थात् वहाँ अदृष्ट के अभाव में भी केवल व्युत्पत्ति तथा अभ्यास के द्वारा प्रतिभा की उत्पत्ति देखते, अतः उन दोनों को भी पृथक् प्रतिभा के प्रति कारण मानना उचित है।

स्वतन्त्र कारण : व्युत्पत्ति, अभ्यास :-

पण्डितराज जगन्नाथ ने रसगंगाधर में व्युत्पत्ति के अन्तर्गत लोकव्यवहार, शास्त्र, काव्य, पुराणेतिहास, प्रकृतिवर्णन आदि विविध विषयों के चिन्तन, मनन एवं मन्थन से उत्पन्न ज्ञान का ग्रहण किया है। कविपद् पार्थी व्यक्ति के लिए यह

---

111. रसगंगाधर प्रथम आनन पृष्ठ 32

सर्वथा उपादेय एवं अनपेक्षणीय तत्व है। तथा इसके द्वारा 'प्रतिभा' उज्जवलता चमत्कारिता एवं पुष्टिवर्धिता को प्राप्त करती है। पण्डितराज जगन्नाथ ने रसगंगाधर नामक ग्रन्थ में कारयित्री एवं भावयित्री प्रतिभा से सम्पन्न काव्य शास्त्र मर्मज्ञ तथा काव्यरचना में निपुण सहृदय कवि एवं आलोचक की सान्निध्यता में रहकर उनके द्वारा प्रदत्त उपदेशों एवं शिक्षाओं को ग्रहणकर काव्यरचना करना तथा उन आचार्यों के निर्देशानुसार ही अपनी रचना को बारम्बार परिष्कृत एवं सुसंस्कृत करना 'अभ्यास' कहलाता है। अभ्यास निरन्तरता के द्वारा ही एक नव्य कवि की वाणी सिद्ध होती है जिसके द्वारा वह सिद्धवाक कविश्वरो की श्रेणी में विराजित हो जाता है। इस प्रकार पण्डितराज को व्युत्पत्ति तथा अभ्यास के बारे में यह बात मान्य है कि परिश्रम करते-करते साधना से भी काव्य कारण की शक्ति उदित हो जाती है। ये एक प्रकार से राजशेखर के 'शास्त्रकवि' को स्वीकार कर लेते हैं तथा इन अर्थों में उन्हें रुद्रट की उत्पाद्या प्रतिभा मान्य हो जाती है।

इतना होते हुए भी इसकी सीमा है। प्रतिभा का अपना एक स्तर है। जो व्युत्पत्ति एवं अभ्यास उस स्तर तक नहीं पहुँच पाते हैं तथा वे प्रतिभा को उत्पन्न भी नहीं कर सकते। व्युत्पत्ति एवं अभ्यास के होने पर भी प्रतिभा के उपस्थिति में दो ही कारण माने जाते हैं- (1) कोई जन्मान्तर का पापात्मक अदृष्ट (2) काव्यप्रतिभा के स्तर के अनुरूप व्युत्पत्ति के एक विशिष्ट स्तर के प्राप्त न कर सकना। अतः शक्ति के लिए अभीष्ट प्रतिभा का कारण वाले व्युत्पत्ति एवं अभ्यास को 'विशिष्ट' अथवा विलक्षण कहना चाहिए। **'प्रतिभात्वं च कविताया: कारणतावच्छेदकं प्रतिभागत वैलक्षण्यमेव वा विलक्षणं - काव्यं प्रतीति नात्रापि सः। न च सतोरपि व्युत्पत्यभ्यासयोर्यत्र न प्रतिभोत्पत्ति- स्तत्रान्वयव्यभिचार इति वाच्यम्। तत्र तयोस्तादृश वैलक्षण्ये मानाभावेन कारणतावच्छेदकानवच्छिन्नत्वात् पापविशेषस्य तत्र प्रत्तिबन्धकत्वकल्पनाद्वा न दोषः।।'**[112]

रसगंगाधर में प्रतिपादित प्रतिभा के स्वरूप की दार्शनिक व्याख्याएँ-

प्रतिभा के स्वरूप का परिचय पण्डितराज ने इन शब्दों में दिया **"सा च काव्यघटनानुकूल शब्दार्थोपस्थितिः। तद्गतं च प्रतिभात्वं**

---

112. रसगंगाधर प्रथम आनन पृष्ठ 34-35

काव्यकारणताऽवच्छेदकतया सिद्धो जातिविशेष उपाधिरूपं वा खण्डम्।"[113] इस स्वरूप परिचय में दो भाग दिखायी पड़ते हैं- प्रथम भाग **"सा च काव्यघटनानुकूल शब्दार्थोपस्थितिः।"** इसमें प्रतिभा के कार्यपक्ष पर ध्यान रखते हुए परिचय दिया गया तथा दूसरे भाग में उनके मूल रूप पर दृष्टि रखकर कुछ दार्शनिक भाषा में। कार्यपक्ष के रूप में प्रतिभा को परिचय की पूर्व में हो चुका है। अब दार्शनिक दृष्टि में पदावली दो दर्शनों की ओर संकेत करती है। एक न्याय की ओर दूसरे वेदान्त की ओर।

नैय्यायिक व्याख्या

न्याय की दृष्टि से प्रतिभात्व को जातिविशेष कहा गया है, जो कि काव्यकारणतावच्छेदक है। नैयायिकों के अनुसार "सामान्य" या जाति का लक्षण है- **"नित्यत्वे सति अनेक समवेतत्त्वम्।"**[114] जाति अनेक समवेत होने के कारण ही अनेक वस्तुओं में अनुगताकार अथवा एकाकार प्रतीति कराती है।[115] जबकि पण्डितराज जगन्नाथ काव्य की विलक्षणता अथवा विविधरूपता का कारण प्रतिभा की विविधरूपता अथवा विलक्षणता को मानते है।[116] अतः 'प्रतिभात्व' वह तत्व है जो विलक्षण (विविधरूपा) प्रतिभाओं में प्रतिभा रूपा अनुगताकार अथवा एकाकार प्रतीति कराता है। इस प्रकार "प्रतिभात्व" एक जाति है।

नैय्यायिक के अनुसार "जाति" हमारे समक्ष दो रूपों में आती हैं- (1) पर (2) अपर। प्रतिभाव-रूप जाति 'पर' तो कहीं नहीं जा सकती। यद्यपि 'पर' तथा 'अपर' शब्द परस्पर साक्षेप होते हैं, तथापि चरम परता तो 'सत्ता' की ही बनती है। अतः प्रतिभात्व को अपर सामान्य या जाति ही स्वीकार करना पड़ता है और 'अपर' सामान्य जहाँ एक ओर अनुवृत्ति-प्रत्यय-हेतु होने के कारण "सामान्य"

113 रसगंगाधर प्रथम आनन पृष्ठ 27

114. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली पृष्ठ 44

115. अनुवृत्तिप्रत्ययहेतुः सामान्यम् तर्कभाषा पृष्ठ 213

116. तादृशादृष्टस्य तादृशव्युत्पत्त्यभ्यासयोश्च प्रतिभागतं वैलक्षण्यं कार्यतावच्छेदकम्, अतो न व्यभिचारः। रसगंगाधर प्रथम आनन पृष्ठ 9

होता है, वहाँ अन्य पदार्थों का व्यावर्तक होने के कारण अपना एक 'विशेष' पक्ष भी रखता है। उदाहरणस्वरूप "घटत्व सामान्य" पृथित्व आदि की अपेक्षा एक अपर सामान्य है। वह अनेक घटों में "घटोऽयम् घटोऽयम्" इस प्रकार की अनुगताकार प्रतीति भी कराता है। साथ ही वह 'पटत्व' आदि अन्य सामान्यों के विषय में भेद बुद्धि भी उत्पन्न करता है। अतः 'घटत्व' रूप अपर सामान्य का एक पक्ष विशेषात्मक भी है। केशवमिश्र ने अपनी 'तर्कभाषा' में इस तथ्य का उल्लेख निम्न शब्दों में किया है :- **"तच्च द्विविधं, परमपरं च। परं सत्ता बहुविषयत्वात्। सा चानुवृत्तिप्रत्ययमात्रहेतुत्वात् सामान्यमात्रम्। अपरं द्रव्यत्वादि। अल्पविषयत्वात्। तच्च व्यावृत्तेरपि हेतुत्वात् सामान्यं सद् विशेषः॥"**[117]

न्याय की इस व्याख्या के आधार प्रतिभा के स्वरूप के सम्बन्ध में निम्न बातें हमारे समक्ष आती है-

(1) प्रतिभा का मूल धर्म प्रतिभात्व है, जो एक जाति विशेष है। यही काव्य का कारणतावच्छेदक है। इसके बिना काव्य की सृष्टि असम्भव है।

(2) इस रूप के उन्मीलक दो प्रकार के उपादान हैं- अदृष्ट व्युत्पत्ति-अभ्यास। ये उपादान अनेक रूप में हो सकते है। अतः इनसे उन्मीलित प्रतिभा भी अनेकरूपा हो सकती है। फलतः काव्यसर्जना भी विविध-रूपा होती है।

(3) प्रतिभात्व का मूल रूप जाति-रूप होने के कारण एक है, उन्मीलित या व्यक्तरूप विविध। इस प्रकार प्रतिभा के अव्यक्त एवं व्यक्त दो रूप कहे जा सकते हैं।

(4) नैय्यायिक व्याख्या द्वारा प्रतिभा का शास्त्रीय स्वरूप ही हमारे सामने आता है, उसका चेतना पक्ष नहीं। अर्थात् अपने कार्यपक्ष के सन्दर्भ में उसके कारणात्मक पक्ष का ही अधिक उद्‌घाटन हुआ है, उसके मूल स्वरूप का कम।

117. तर्कभाषा पृष्ठ 213-214

प्रतिभात्व को भी पण्डित राज जगन्ननाथ ने 'जातिविशेष' कहा है, इस विशेषण से हमारे सामने काव्यनिर्माण से सम्बन्ध रखने वाली 'प्रतिभा' का ही स्वरूप आता है। कारण में रहने वाले मूलधर्म को नैय्यायिक 'कारणतावच्छेदक' कहता है। प्रतिभा काव्य का कारण है। अतः प्रतिभात्व ही कारणतावच्छेदक धर्म हो सकता है। पण्डितराज ने इसीलिए **'प्रतिभात्वं काव्यकारणतावच्छेदकतया सिद्वो जातिविशेषः'** कहा है। वस्तु के धर्म दो प्रकार के होते हैं- (1) सिद्ध (2) साध्य। साध्य वस्तु- धर्म क्रिया रूप होता है। सिद्ध वस्तु धर्म दो प्रकार का होता है- (1) जाति (2) गुण। 'जाति' पदार्थ का प्राणप्रद धर्म होता है, अर्थात् बिना इस धर्म के वस्तु की सत्ता ही नहीं रहती। गोत्व के बिना गाय की कल्पना ही क्या?[118] प्रतिभात्व भी प्रतिभागत ऐसा ही सिद्ध धर्म है, जिसके बिना काव्य की कारणमूलभूता प्रतिभा की कल्पना ही नहीं की जा सकती। इस प्रकार न्याय की दृष्टि से पण्डितराज ने प्रतिभा का स्वरूप इस प्रकार दिया- **"तदगतं च प्रतिभात्वं काव्यकारणतावच्छेदकतया सिद्धो जाति विशेषः।"**

वेदान्ती व्याख्या-

न्यायिक व्याख्या में कार्य के सन्दर्भ में प्रतिभा के कारणतारूपपक्ष का शास्त्रीय स्वरूप निरूपण ही प्रमुखतः हमारे समक्ष आया है। उसके चेतनात्मकमूलरूप पर अधिक प्रकाश नहीं पड़ सकता है। प्रतिभा के इस पक्ष को भी प्रकाश में लाने के लिए वेदान्त पदावली का प्रयोग किया गया है। उसके अनुसार प्रतिभात्व को अखंड उपाधि कहा गया है-**'तदगतं प्रतिभात्वं..........उपाधिरूपं वा खण्डम्।'**[119]

वेदान्त के अनुसार चैतन्य या चित्ति की दो स्थितियाँ हमारे सामने आती हैं- (1) विशुद्ध (2) औपाधिक। निरूपाधिक ब्रह्म नित्य शुद्ध - वुद्ध - मुक्त - स्वभाव, अवाङ्मानसगोचर एवं अखण्ड होता है।[120] उपाधि एवं चित्ति की मिली

118. रसगंगाधर प्रथम आनन पृष्ठ 8

119. वही प्रथम आनन पृष्ठ 8

120. अखण्डं सच्चिदानन्दवाङ्ममानसगोचरम्।।
आत्मानमखिलाधारमाश्रयेऽभीष्ट सिद्धये।। वेदान्तसार पृष्ठ 27

जुली सत्ता ही व्यावहारोपयोगी होती है।[121] निरूपाधिक ब्रह्म के लिए प्रयुक्त अखण्ड शब्द प्रतिभा के लिए पण्डितराज द्वारा प्रयुक्त 'अखण्ड' शब्द से भिन्न समझना चाहिए। 'प्रतिभा' व्यावहारिक क्षेत्र की वस्तु है। अतः पण्डितराज ने भी उसे अखंड-मात्र न कहकर, अखण्ड उपाधि कहा है। चित्ति की सोपाधिक स्थिति अथवा चित्ति की उपाधि की चर्चा भी वेदान्त में दो रूपों में आती है- (1) अखण्ड उपाधि (2) सखण्ड उपाधि। अखण्ड उपाधि चेतना का वह रूप है जब उसमें ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय के भेद अथवा विकल्प विस्फुटित नहीं हुए होते हैं। इसे ही निर्विकल्प चेतना भी कह सकते है।[122] सखण्ड उपाधि में चेतना के अनेक विकल्पात्मक स्तर विकसित हो चुके होते हैं। इन सविकल्पात्मक स्थितियों का परिगणन कौन कर सकता है?जिस प्रकार अखण्ड उपाधि में से सखण्ड, सविकल्प स्थितियों का प्रार्दुभाव होता है, उसी प्रकार विपरीत क्रम से तिरोभाव भी। इन उन्मीलन एवं निमीलन की प्रक्रियाओं को आचार्य अध्यारोप तथा अपवाद शैलियों से समझता है।[123] अध्यारोप - अपवाद उन्मीलन निमीलन की प्रक्रियाएँ ही है। इसलिए प्रतिभात्व को 'अखंड उपाधि' कहने का तात्पर्य यह हुआ कि प्रतिभा का मूलरूप निर्विकल्पात्मक चेतना है। यह स्थिति विकल्प या विलक्षणों की दृष्टि से अव्यक्त है। अनुन्मीलित रूप, उन्मीलित रूप, कारणता रूप, कारण सामग्री तथा कार्य एवं कार्यविलक्षणता आदि सभी पदों पर व्यापक दृष्टि रखी है और इन सभी तथ्यों को स्वल्प शब्दों में ही निहित कर दिया है। पण्डितराज के उपर्युक्त मन्तव्य निम्न शब्दों में निहित है- **'तस्य च कारणं केवला कविगता प्रतिभा। सा च काव्यघटनानुकूल शब्दार्थोपस्थितिः। तदगतं च प्रतिभात्वं काव्याकारणतावच्छेदकतया सिद्धो जातिविशेष उपाधिरूपं वा खण्डम्। तश्याश्च हेतुः क्वचिद् देवता महापुरुष प्रसादिजन्यमदृष्टम्। क्वचित्व विलक्षणव्युत्पत्ति काव्यकारणाभ्यासौ।।'**[124]

---

121. सत्यानृते मिथुनीकृत्य........नैसर्गिको लोकव्यवहारः।। शाङ्करभाष्य पृष्ठ 16-17
122. 'निर्विकल्पस्तुस्तु ज्ञातृज्ञानादिविकल्पालयापेक्षयाद्वितीयवस्तुनि तदाकाराकारितायाश्चित्तवृत्तेरतितरामेकीभवेनावस्थानम्।' वेदान्तसार पृष्ठ 132
123. 'स परमकृपयाऽध्यारोपापवादन्यायेन्नेनमुपदिशन्ति' वही पृष्ठ 38
124. रसगंगाधर प्रथम आनन पृष्ठ 8

'तादृशाशादृष्टस्य तादृशव्युत्पत्यभ्यासयोगश्च प्रतिभागतं वैलक्षण्यं कार्यतावच्छेदकं, अतो न व्यभिचारः। प्रतिभात्वं च कविताया: कारणतावच्छेदकं प्रतिभागतवैलक्षण्यमेव वा विलक्षणकाव्यं प्रतीति नात्रापि सः॥'[125]

विभिन्न रूप अदृष्टों से अथवा व्युत्पत्ति अभ्यास से इनका उन्मीलन होता है। फलतः प्रतिभात्व विशिष्ट प्रतिभा उन्मीलित अवस्था में आती है। यह उन्मीलित अवस्था उन्मीलक कारणों की विविध रूपता के कारण विविध रूपा ही होती है। तथा तदनुरूप उसका काव्य सर्जन भी विविध रूप होता है। सखण्ड उपाधि अथवा सविकल्पात्मक प्रतिभा के विलक्षण रूपों में प्रतिभा का यह मूल रूप अखण्ड उपाधि स्वरूप प्रतिभात्व ही सन्निविष्ट रहता है। इस प्रकार पण्डितराज के अनुसार प्रतिभा का मूल रूप अर्थात् प्रतिभात्व तो अखण्ड उपाधि है, अदृष्टादि कारण सामग्री से उन्मीलित प्रतिभा सखण्ड उपाधि। किन्तु सखण्ड या सविकल्पक स्थितियों की नाना-रूपता के कारण उनका सटीक परिचय नहीं दिया जा सकता। इस प्रकार पण्डितराज के प्रतिभा सम्बन्धी मत का आलोडन करने से निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार काव्य का कारण केवल प्रतिभा है। न कि प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास। व्युत्पत्ति एवं अभ्यास अदृष्ट प्रतिभा के उन्मीलक हेतु हैं। ये हेतु विविध रूप में हो सकते हैं। अतः प्रतिभा का उन्मीलित रूप भी विविध हो सकता है।

इस प्रकार काव्य की कारणता के विचार में संस्कृतकाव्यशास्त्र में निम्नलिखित मत हैं-1.केवल प्रतिभा को ही काव्य का कारण मानने वालों का मत। इस मत को आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने माना है।

2.प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास- इन तीनों के सम्मिलित रूप को काव्य का कारण मानने वालों का पक्ष, जिसे रूद्रट, मम्मट तथा विद्यानाथ आदि मानते हैं।

125.रसगंगाधर प्रथम आनन पृष्ठ 8

3. प्रतिभा को अलग तथा व्युत्पत्ति और अभ्यास को अलग काव्य का कारण मानने वाला मत, जिसे दण्डी ने उपस्थित किया है।

अधिकांश काव्यशास्त्रियों ने शक्ति और प्रतिभा को एक ही माना है, पर राजशेखर ने दोनों में अन्तर करके शक्ति को प्रतिभा का मूल बताकर तथा पण्डितराज ने प्रतिभा की भी कारणता का सूक्ष्म विवेचन करके प्रतिभा-संबधी चिन्तन को नये आयाम दिये हैं।

काव्यप्रतिभा की उपर्युक्त सभी विशेषताओं का समाकलन आचार्य महिमभट्ट ने इस प्रकार किया है-वस्तु का जो विशिष्ट रूप है, उसको प्रतिभा के समान दिखा देती है। जब कवि का चित्त रस के अनुकूल शब्द और अर्थ की चिन्ता में निश्छल हो जाता है, तो उस क्षण उसके भीतर उत्पन्न होने वाली प्रज्ञा ही प्रतिभा है। यह प्रतिभा शंकर के तृतीय नेत्र के समान होती है, जिसके द्वारा कवि तीनों लोकों के पदार्थों का साक्षात्कार करता है-

विशिष्टमस्य यद्रूपं प्रत्यक्षमिव भासते।
रसानुगुण-शब्दार्थचिन्तास्तिमितचेतसः।
क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञेव प्रतिभा कवेः।
सा हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते।
येन साक्षात्करोत्येष भावांस्त्रैलोक्यवर्तिनः॥

***

पंचम अध्याय

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में प्रतिभा

5.1 प्लेटो

यूनान के प्राचीन विचारक प्लेटों के सिद्धान्त आज भी पाश्चात्य विचारकों की धारणाओ को प्रभावित करते है। पिछले लगभग 2500 वर्षों से उनकी वैचारिक परम्परा किसी न किसी रूप में विकसित होती हुई चली आ रही है। उनकी समस्त कृति के प्रमुख प्रवक्ता उनके गुरू सुकरात है। वस्तुतः सुकरात के कथन को लिपिवद्ध करते हुए प्लेटों जिस भूमि पर खड़े थे वह होमर, हिसियाड, पिण्डर, गोत्रियांस, डिमाक्रिट्स, प्लुर्टाक, डायोजेनीस लापर्टीज, एरिस्टोफेनीज, सुकरात आदि की थी। इनकी राजनीति दर्शन, नैतिकता, साहित्य आदि के क्षेत्र में अपनी-अपनी उपलब्धियाँ थी, इस उर्वर भूमि में वीजारोपण हो चुका था। प्लेटो का कार्य पोधौं की देख-रेख करने वाला माली का था। एक जिम्मेदारी थी। प्लेटों ने कवि राजनीतिक की भूमिका निभाने के बाद अपने आप को दार्शनिक में बदल लिया था। **उनका मुख्य कार्य राजनीति एवं दर्शन से सम्बन्धित है पर रिपब्लिक के दूसरे तीसरे और दसवें भाग में साहित्य के सम्बन्ध में भी उन्होंने विचार प्रस्तुत किये है।** यहाँ पर उन्हीं साहित्यिक विचारों में से **प्रतिभा सम्बन्धी विचार** को प्रस्तुत किया जा रहा है। प्रतिभा के रूप की पाश्चात्य जगत में प्रथम अभिव्यक्ति है। प्लेटों की दृष्टि मे काव्यों की महनीयता तथा सुन्दरता का कारण ब्राह्य न होकर अन्तः स्थल ही मुख्य है, क्योंकि होमर के दोनों महाकाव्यों इलियड और ओड्से में लोक कथाओं में प्रतिष्ठित देवी की वन्दना है, जिसमें कवि काव्य-प्रेरणा दान के लिये अभिलषित है, क्योंकि उसे विश्वास

है कि काव्य-देवी की कृपा से ही उसका काव्य सफल होगा और उसकी प्रतिष्ठा हो सकेगी। हिसियाड की पुस्तक थियोजोनी की प्रस्तावना में भी काव्य-देवी की कृपा का उल्लेख है। **लेखक अपने पाठकों से कहता है कि वह न तो लेखक था न कवि, काव्य देवी की प्रेरणा से वह अपने महान साहित्यिक कार्य में सफल हुआ है।**

क्योंकि प्लेटों का विश्वास था कि **'काव्य देवी (Muss) कुछ एक को कृपा करके काव्य की प्रेरणा या स्फुरण देती है। जिन्हें काव्य देवी की कृपा प्राप्त होती है वे ही सर्जक हो जाते है। इन्हीं सर्जको द्वारा दूसरो को काव्य प्रेरणा प्राप्त होती है।'**[1] इस काव्य के माध्यम से ऐसे व्यक्तियाँ की एक शृंखला बन जाती है। चुम्बक के पास का छल्ला कवि है उसके बाद का व्याख्याता और अन्तिम पाठक। इस तरह काव्य देवी कई एक शृंखलाओं का निर्माण कर देती है जो छल्ला जिससे जुड़ा है वह उसी की ओर आकर्षित होता रहता है। यही कारण है कि सभी को एक ही कवि की रचनाएँ आनन्दित नहीं करती हैं। इसी प्रकार व्याख्याता भी किसी विशेष कवि के प्रति विशेष उत्साह दिखाता है जब कि दूसरे के प्रति वैसा संभव नहीं हो पाता है। यह दैवी प्रेरणा का ही प्रभाव है अन्यथा सबको सभी प्रकार की कविताओं से आनन्द प्राप्त होता है।[2]

प्लेटो की इसी व्याख्या को **चुम्बक** और **लौह छल्ले** सिद्धान्त के नाम से जाना जाता है इसकी प्रमुख बात है दैवीय स्फुरण। इस देवी स्फुरण काल में कवि अपने होश मे नहीं रहता है क्योंकि उस पर काव्य देवी की कृपा होती है। जब तक उसे प्रेरणा नहीं प्राप्त होती और वह अपने-आप से बाहर नहीं होता, तर्कशक्ति उसके पास रहती है तब तक कवि भविष्य कथन और काव्यरचना में असमर्थ रहता है। इस सम्बन्ध में विचार व्यक्त करते हुए प्लेटों कहते है-"For the poet is a light and winged and holy thing and there is no invention in him until he has been inspired and is out of his senses, and the mind is no longer in him, when he has no longer in him;

1. पाश्चात्य एक दृष्टि पृष्ठ 5-7
2. वही एक दृष्टि पृष्ठ 8

when he has not attained to this state, he is powerless and unable to utter his oracles'[3] अर्थात् कहने का आशय यह है कि कवि की कला सूक्ष्म पंखो वाली उर्ध्वमुखी और पवित्र वस्तु है। जब वह स्फुरित नहीं होता, चेतना से बाहर नही होता और अपने आप से बाहर नहीं होता, तब तक वह कुछ आविष्यकृत नही कर सकता है। जब वह अपने आप मे रहता है, आपा खोने की अवस्था से नहीं गुजरता है। तब वह शक्तिहीन और काव्य में अयोग्य रहता है।

प्लेटों ने कवियों की तुलना भ्रमरों से की है। मधुव्रत एक पुष्प से दूसरे पुष्प पर जाता है। और नाना उपवनों में घूमकर मधु की राशि संचय कर लौटता है। कविजनों की भी दशा ठीक ऐसी ही है। वे भी शारदा के मधुमय उत्सवो के समीप जाकर राग की माधुरी ग्रहण कर लौटते है और कल्पना के पंखों से सुसज्जित होकर तथ्य की अभिव्यक्ति करते है- "For a poet is inteed a thing ethereally light winged and scanned nor can he compose any thing worth calling poetry untill he become inspired' and as it here mad or whilst any reason remains wither him.'[4]

कहने का आशय यह है कि प्रशंसित काव्यों के लेखक कला के नियमों के अनुसार उत्कर्ष नहीं प्राप्त करते है प्रत्युत वे स्फुर्ति की दशा में अपने सुन्दर गीत अलापते है, प्रतीत होता है कि उनके ऊपर एक नवीन व्यक्तित्व का आक्रमण हो जाता है तथा वे अपने से पृथक किसी आत्मा से आक्रान्त होते है। गीति काव्य के रचयिता दैवी पागलपन (Divine insanity) की दशा मे अपने विश्वास गायनो का निर्माण करते है- The authors of these great poems which we admire do not attain to excellence through the rule of any art, but these uttar their beautiful modules of verse in a state of inspiration and, as it were possessed by i spired not their own.[5] क्योंकि उनका ख्याल था कि यह दैवी उन्माद कवि की संवेदनशील और पवित्र आत्मा को अपने वंश में कर लेता है। इसमें कवि उदीप्त हो जाता है तथा उसमें अन्याय

3. पाश्चात्य एक दृष्टि पृष्ठ 7
4. वही पृष्ठ 9
5. वही पृष्ठ 9

प्रकार के काव्य सृजन की क्षमता आ जाती है। यदि कोई कवि बिना दैवी उन्माद के कविता के निकट पहुँचता है तो वह कल्पनात्मक ज्ञान के बल पर सफल कवि नहीं बन पाता है। कवि जब काव्य देवी के त्रिशुल पर जा बैठता है तब वह अपना आपा खो बैठता है। उस अवस्था में केवल स्वच्छन्द ज्ञान से वह दैवी स्फुरण को संप्रेषित करता रहता है। उसका यह कार्य अनुकरणात्मक होता है, इसलिये उसे विपरीत पात्रों Contrasting character द्वारा अपना ही विपर्यय सर्जन में प्रस्तुत करता पड़ता है। उसे यह ज्ञात नही होता है कि इन विपरीत पात्रों से सही कौन बोल रहा है। प्लेटों तो यहाँ तक कहता है कि कवि स्वयं अपनी रचना की व्याख्या करने में भी असमर्थ होता है, क्योंकि उसका सृजन ज्ञान से नहीं प्रतिभा से सम्पन्न होता है।[6]

प्लेटों की इस सम्मति मे कवि के लिये स्फूर्ति, प्रेरणा या प्रतिभा की नितान्त आवश्यकता रहती है। कवि में जब तक प्रतिभा का आर्विभाव नहीं होता कल्पना जागरुक नहीं होती, तब तक काव्य की रचना कर ही नहीं सकता। उनका तो यहाँ तक कहना है कि बुद्धि व्यापार को कोई अंश जब तक अवशिष्ट रहता है तब तक वह कविता की रचना मे एकदम असफल रहता है, कविता बुद्धि व्यापार की उपज नहीं है, वह तो प्रतिभा की प्रसूति है। प्लेटों के अनुसार मन की दो वृत्तियाँ है- बुद्धि व्यापार तथा स्फूर्ति व्यापार। प्रथम में मन नितान्त सजग रहता है और दूसरे मे वह सुप्त दशा का अनुभव करता है। बुद्धि व्यापार का चमत्कार **'शास्त्र'** है तथा स्फूर्ति व्यापार का विलास **'काव्य'** है। अतः शास्त्र की अपेक्षा काव्य की महत्ता तथा गरिमा सर्वथा मान्य है-For a whilst a man retains any portion of the thing called reason, he is utterly incompetent to produce poetry.[7]

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि **'प्लेटों काव्य सर्जन को अभ्यास जन्य या कौशलजन्य न मानकर उसे देवी स्फुरण मानते है।'** प्लेटों

---

6. पाश्चात्य काव्यशास्त्र एक दृष्टि पृष्ठ 9
7. वही पृष्ठ 9

का यह विचार परम्परा गत ही था। परम्परा से हटकर इस सिलसिले में यदि कुछ है तो वह कवि व्याख्याता एवं पाठक का स्थान निरूपण और आपसी संबध। इसे भी परम्परा से हटना न कहकर विकसित होना ही कहा जाएगा।

5.2 अरस्तू

अरस्तू ने दैवी प्रेरणा को अस्वीकार कर दिया और कहा कि कविता की प्रवृत्ति मानव स्वभाव की ही प्रवृत्ति है। मानव का स्वभाव है अनुकरण द्वारा ज्ञान लाभ प्राप्त करना और साथ ही वह सामञ्जस्य का भी प्रेमी है। यह अनुकरण और सामञ्जस्य की प्रवृत्ति ही मानव को काव्यरचना में प्रवृत्त करती है। अरस्तू कला को प्रकृति के अनुकृति मानते हैं पर प्रकृति की व्याख्या उन्होंने इस प्रकार की है–'प्रत्येक वस्तु पूर्ण विकसित होने जो होती है उसे ही हम उसका प्रकृति कहते है।' इससे स्पष्ट हो जाता है कि प्रकृति से उसका अभिप्राय गोचरर वस्तुओं से नहीं था बल्कि प्रकृति की सृजन प्रक्रिया अर्थात् प्रकृति नियम से है। प्रकृति जिस आदर्श की प्राप्ति में निरन्तर प्रयत्न शील रहती है और किन्हीं कारणों से सफल नहीं हो पाती है, कलाकार उन्हीं अवरोध को हटाकर प्रकृति की सर्जन प्रक्रिया का अनुकरण करता हुआ उसे पूर्णता तक पहुँचाता है। इस प्रक्रिया से गुजर कर कलाकार वस्तु को वैश्विक और आदर्श रूप प्रदान करता है। कृतिकार प्रकृति को जैसी की तैसी नहीं बल्कि उसकी कल्पना में उसका जो स्वरूप उपलब्ध होता है उसे अभिव्यक्ति देता है। इससे एक प्रकार का नवीन तथा ज्योर्तिमय स्वप्न निर्मित होता है जो केवल अपने मूल रूप में ही संसार में प्रकट था। कवि यथार्थ जगत से अपनी सामग्री उपलब्ध कर अनेक नवीन भावों की कलात्मक कौशल से सृष्टि कर लेगा तथा उन वस्तुओं के भावी रूप का संकेत प्रस्तुत करेगा। इससे कला में संजीवता और पूर्णता आ जायेगी। उनकी इस व्याख्या के कारण मानव जीवन एवं मानव विचार के स्थायी भाव की अभिव्यक्ति हो जायेगी। वस्तुतः काव्य न केवल यथार्थ का अनुकरण है और न ही भावों का येन्द्र जालीक संसार बल्कि वह है राज मर्रा की जिदंगी से उभरने वाला सत्य जो मानव जीवन को प्रभा मय बनाता हुआ नव आदर्श की स्थापना करता है–Generally art partly completes what nature can bring a finish

and partly imitates her.[8] इसका आशय यह नहीं है कि अरस्तू कविता के हेतु प्रतिभा से अपरिचित था या उसकी दृष्टि में प्रतिभा कविता का कारण नहीं हो सकती। उसने अनेकशः इस बात का प्रतिपादन किया है कि कविता अन्तः स्फूर्त तत्व है। यह अन्तःस्फूर्त तत्व प्रतिभा के हेतुओं से अधिकाधिक अपना स्थान बनाया और मध्ययुग, पुनर्जागरण काल और 19 वीं शती के मध्य भाग तक इस धारण का प्राबल्य रहा। कवि की प्रज्ञा पदार्थ का स्पर्श कर अधिक सरलता से उदबुद्ध हो जाती है। आगे चलकर प्रतिभा का सम्बन्ध चेतना के अन्तर्द्वन्द्व और वंश प्रभाव आदि से जोड़ दिया गया। कविता के दूसरे हेतु निपुणता को भी अरस्तू ने महत्व प्रदान किया है किन्तु यह स्पष्ट नही किया कि इन दोनों में सापेक्षिक महत्व किसका अधिक है।

5.3 लोजांइस-

सन् 1554 ई. मे पहली बार 'पेरिइप्सुस' (औदात्य-ऊचाई) का अनुवाद अंग्रेजी में On the sublime' के नाम से प्रकाशित हुआ। यही **'पेरिइप्सुस'** लोजाइंस की वह अद्‌भुत कृति है जो उनका स्थान साहित्याकाश में सुरक्षित बनाए हुए है।

लोजाइंस ने प्रतिभा के बारे में कहा है कि **'प्रतिभा सम्पन्न कलाकार मात्र अपनी ही बात नही मनवाता बल्कि श्रोता या दर्शक को एक विशिष्ट लोक में ले जाता है............... लेकिन वह रचना तभी प्रभावशाली, महान और शक्तिशाली मानी जाएगी जब कि श्रोता को आत्मविस्मृत कर दे।"**[9]

उनका स्पष्ट मत था कि कलाकार की शैली में यह गुण प्रतिभा एवं कला के अध्ययन तथा अनुकरण द्वारा ही आता है। इसके लिये दोनों अर्थात् प्रतिभा और अभ्यास आवश्यक है-'**--------And the genius is what he by the gift of nature-------- and must assist in training the natural power.'**[10]

8. पाश्चात्य काव्यशास्त्र एक दृष्टि पृष्ठ 19
9. वही पृष्ठ 27
10. वही पृष्ठ 27

कहने का आशय यह है कि **प्रतिभा प्रकृति पदत्त है, इसलिये प्राकृतिक शक्तियों से अभ्यास प्राप्त करना ही परमावश्यक है।** प्रतिभा को बुद्धिमता से नियंत्रण न करने पर प्रकृति का यह उपहार में पड़ जाता है। इस कथन की पृष्ठभूमि में पूर्व विद्वानों का यह **'सिद्धान्त-सहज प्रतिभा उच्छृंखल होती है'** निहित है। वस्तुतः प्रतिभा स्वयं अपना नियमन करती है और कला उसे अध्यवसाय द्वारा प्रकट करती है। इसलिये कला के प्रमुख रूप से दो कार्य माने गये है-

1. उच्छृंखलता पर नियंत्रण एवं शैली में सन्तुलन स्थापन।
2. पकृति पदत्त सहज अभिव्यंजना।

श्रेष्ठ रचना में उत्तेजना तथा संयम दोनों की समरूप आवश्यकता होती है। ये ही तत्त्व उसे श्रेष्ठता से मंडित करते है।

5.4 अंलेक्जेण्डर पोप

पोप के विचारानुसार प्रत्येक कवि और आलोचक को प्रतिभा सम्पन्न होना चाहिए।[11] यद्यपि प्रतिभा सबसे समान मात्रा में विद्यमान नहीं होती है फिर भी अनेकानेक व्यक्तियों को यह समान मात्रा में विद्यमान नही होती है फिर भी अनेकानेक व्यक्तियों को यह वरदान प्राप्त हो सकता है। **प्रतिभा ईश्वर प्रदत्त होती है। प्रतिभावान व्यक्ति इसका विकास कर सकता है।**[12] इसका विकास प्रकृति के अनुसरण एवं गहनतम निरीक्षण तथा पूर्ववर्ती कृतियों के चिन्तन अध्ययन और मनन पर निर्भर रहता है। प्रतिभा सम्पन्न आन्वेषक जब किसी विशेष कृति का अध्ययन प्रारम्भ करता है तो वह सर्वप्रथम उस प्रतिभा सम्पन्न कवि की भावनाओं से तादात्मय स्थापित करता है। इससे उसका जो भी मूल्यगत निर्णय होता है, वह पूर्णकृति को ध्यान में रखकर होता है। उस रचना के किसी अंग विशेष को लेकर वह मूल्यों को स्थिर नहीं करता क्योंकि इस प्रकार की आलोचना मात्र आंशिक सत्य का ही साक्षात्कार कर सकती है। काव्यगत नगण्य

11. पाश्चात्य काव्यशास्त्र-एकदृष्टि पृष्ठ 37
12. वही पृष्ठ 37

दोषों को वह महत्व नहीं देता है। उसके समक्ष काव्य की सम्पूर्ण प्रतिभा की जो छटा होती है, वही उसे आर्कषित करती है।

यह बात पोप के इस कथन से पूर्ण रूपेण स्पष्ट हो जाती है वैदग्ध्यपूर्ण रचना को प्रतिभा सम्पन्न आलोचक उसी भावना से पढ़ता है जिस भावना से कवि लिखता है। वह सम्पूर्ण कृति को जाँचता रहता है। वह अन्वेषण करता है कि काव्य में कहाँ प्रकृति आन्दोलित हो रही है और कहाँ मन आह्लादयुक्त भावों की उष्मा से विभोर हो रहा है। वह नगण्य दोषों के उदघाटन में अपनी शक्ति का अपव्यय नहीं करता है, बल्कि द्वेष रहित हो आनन्द का सृजन करता हैं-**A perfect judge will read each work of wit with the same spirit that its author write: survey the whole, nor seek slight faults to find where nature moves, and rapture warms the mind; nor lose, for that malignat dull delight, the generous pleasure to be charmed with wit.**[13]

इसका अभिप्राय यह है कि पोप प्रतिभा को कवि और आलोचक के लिये परम आवश्यक मानते थे। यह ईश्वर प्रदत्त तो है, पर व्यक्ति अपनी साधना द्वारा व्यापक रूप से विकसित कर सकता है।

5.5 क्रोञ्चे

क्रोञ्चे ने सहानुभूति को सवर्था तर्कातित और बौद्धिक ज्ञान से भिन्न कहा है। क्रोञ्चे ने कहा कि सहजानुभूति की उपस्थिति सभी मनुष्यों मे समान रूप से मानी है। अभिनवगुप्त भी प्रतिभा को सर्वगामिणी सबके भीतर विद्यमान रहने वाली मानते है।

क्रोञ्चे मूलतः आत्मवादी दार्शनिक थे उन्होंने अन्तर दृष्टि अन्तः प्रवृत्ति, चिन्तन, कल्पना, विचार, अलंकरण की प्रवृत्ति और प्रतिनिधित्व की आकांक्षा को काव्य प्रेरणा में अत्यधिक महत्व प्रदान किया है इन्होंने कला का विवेचन दर्शन की छाया में किया है वह आत्मा की मूलतः दो क्रियाए मानते है-

---

13. पाश्चात्य काव्यशास्त्र : एकदृष्टि पृष्ठ 38

1. सैद्धान्तिक।
2. व्याहारात्मक।

प्रथम के द्वारा मनुष्य ज्ञान प्राप्त करता है और दूसरे के द्वारा व्यवहार प्राप्त करता है। वह ज्ञान के दो प्रकार मानता है-

1. 'स्वयं प्रकाश या प्रातिभ ज्ञान।'

2. 'दूसरा तर्कज्ञान स्वयं प्रकाश ज्ञान दृष्टि का ज्ञान होता है।'

तर्कज्ञान सामान्य ज्ञान का होता है। प्रथम कल्पना से उत्पन्न होता दूसरा बुद्धि से प्राप्त होता है। प्रथम द्वारा वस्तुओं के बिम्बों या भावनाओं का निर्माण होता दूसरे का सम्बन्ध निश्चयात्मक बुद्धि से होता है और उससे सामान्य विचारों का बोध होता है। पहला कला का उत्पादक होता है दूसरा दर्शन और विज्ञान को जन्म देता है। स्वयं प्रकाश ज्ञान बौद्धिक ज्ञान से स्वतंत्र होता है। वह एक प्रकार का अलौकिक शक्ति है जो आज क्षण भर में किसी दृश्य या भावना को अपना कर उसे साकार मूर्त या सुन्दर रूप दे देती है।[14] **स्वयं प्रकाश ज्ञान बिम्बों की रचना करता है तो प्रज्ञात्मक ज्ञान बोध की।**[15] बुद्धि की सहायता से हम निर्णय करते है कि मनुष्य विचार शील प्राणी है, स्वयं प्रकाश ज्ञान (कल्पना) हमारे मन में एक ऐसे प्राणी का बिम्ब कर देते है जिसमें विचार करने की क्षमता है। सहज ज्ञान या प्रातिभ ज्ञान का ही कला से संबंध है। इसके द्वारा वस्तु साक्षात्कार के बिम्बों या भावनाओं का सृजन कल्पना के योग से होता है यही कला उत्पादक तत्व है यह एक तरह के अलौकिक शक्ति है जो दृश्य को अपनाकर सुन्दर स्वरूप में वर्णित कर देती है काल्पनिक बिम्बों की रचना इसका महत्त्व क्षेत्र है।[16]

पाश्चात्यतत्वज्ञ क्रोञ्चे का तो स्पष्ट मन्तव्य यह है कि प्रतिभा ज्ञान की यर्थाथता का परिचय ही तब तक नहीं मिलता जब तक कि अभिव्यंजना

---

14. समीक्षाशास्त्र के भारतीय तथा पाश्चात्य मानदण्ड पृष्ठ 480
15. वही पृष्ठ 481
16. वही पृष्ठ 482

Expression मानसिक ही सही के रूप में परिणत नहीं होता-Intuition is only intuition in so for as it is in that very act Expression an image that does not express that is not speach song drawing painting sculpture orar chituetuture speech at least marmeurmeed to oneself. Song at last echoning withen one's own breast live and calor scen in imagination and colouring with its own tint the whole soul and organine is an image that does not erist.

5.6 एस॰ टी॰ कोलरिज

एस॰ टी॰ कोलरिज और विलियम वर्डस वर्थ समसामयिक और कुछ दिन तक पड़ोसी भी थे। दोनों की काव्य संबंधी मान्यताओं में पर्याप्त अन्तर था। इसके बावजूद दोनों एक ही काव्य युग के निर्माण में जुटे हुए थे। विलियम वर्डस वर्थ की प्रीफेस को लेकर वैचारिक मत वैचित्र विशेष रूप में प्रकाश में आया, क्योंकि वर्डस वर्थ ने अपने काव्य को केन्द्र में रखकर काव्य सिद्धान्त प्रतिभा का विवेचन एवं निरूपण किया था।

कोलरिज कहते है कि **'किसी युग की कविता पर विचार करते समय कविता, कवि तथा उसकी प्रतिभा तीनों पर ध्यान रखना चाहिए। प्रतिभा के अर्न्तगत परिमार्जित बिम्ब, विचार, भावनाएँ एवं उसका मानसिक जगत भी आता है।"**[17] कवि आदर्शात्मक पूर्णता का प्रवक्ता है, इससे वह व्यक्ति की आत्मा को सक्रिय कर देता है। इस प्रक्रिया में आन्तरिक शक्तियाँ एक-दूसरे की सहयोगिनी हो जाती है। इस सहयोग की मात्रा में व्यक्ति का सम्मान और वस्तु के प्रति लगाव भी बड़े मूल्यवान हैं। इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है। इस तरह कवि एकात्मकता की शक्ति और एक प्रकार की धारणा उत्पन्न करता है। इस संश्लिष्टता से एक जादुई शक्ति का निर्माण होता है जिसे हम कल्पना नाम से अभिहित करते है। कवि इस व्यक्ति को इच्छा और समझ के द्वारा क्रिया-रत करता है। इससे कल्पना का विस्तार होता है, पर उस पर एक शिष्ट एवं अनजान नियत्रंण स्वयं सन्तुलन की दृष्टि से या वैचारिक प्रतिकूलता से अथवा निषेधात्मक गुणों के कारण स्थापित हो जाता है। साम्य-वैचित्र्य से, तथा

17. समीक्षाशास्त्र के भारतीय तथा पाश्चात्य मानदण्ड पृष्ठ 480

विचार से, बिम्ब व्यक्ति से प्रस्तुत नवीनता की चेतना तथा ताजगी से, प्राच्य परिचित वस्तु-सहज भावना से, अधिकतर सहज-व्यवस्था-न्याय जागृति और स्वाधिकार से तथा प्रेरणा अनुभूति से घुल-मिलकर प्राकृतिक एवं कृत्रिम में एकरूपता हो जाती है। जब तक कला प्रकृति से, शील वस्तु से और हमारी कवि की प्रति की गई प्रशंसा हमारी सहानुभूति जो कविता के प्रति होती है, एक दूसरे को सहयोग करती रहेगी तब तक कविता सन्देहास्पद बनी रहेगी।

इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि कौलरिज के विचार से कल्पना में जादुई शक्ति है जो सब कुछ एक संकेत मात्र से ही सम्पन्न कर देती है। सभी प्रकार के वैषम्य को मिटाकर एक अनुपम और अनोखा सत्य इस शक्ति से प्रतिपादित हो जाता है। आज यह विदित हो चुका है कि कल्पना का आधार पूर्णरूपेण वायवी नहीं होता है। उसका आधार किसी न किसी तथा से कही न कही जुड़ा रहता है। यदि कल्पना में इतनी शक्ति होती तो आज के विग्रहात्मक वातावरण में औषधि का कार्य करती। इसके वावजूद यह प्रमाणित हो जाता है कि कौलरिज की निष्ठा कल्पना शक्ति पर अत्यधिक थी। उनके मतानुसार कल्पना काव्य का सर्वप्रमुख महत्त्वपूर्ण तत्व है। इस प्रकार वे वर्ड्सवर्थ के यथार्थ एवं वैषम्य को पूर्णरूपेण नकार देते है।

इस विवेचन के पश्चात् वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि-'finally GOOD sense is the BODY of poetic genius, Fancy its DRAPERY, MOTION is LIFE, and IMAGINATION the SOUL. That is every where, and in each, and forms all in to one graceful and intelligent whole.'[18] अर्थात् अन्त में कहा जा सकता है कि अच्छे विचार ही काव्यात्मक प्रतिभा के शरीर हैं, मसृणता उसकी क्रान्ति है, गत्यात्मकता जीवन और कल्पना आत्मा है। वह व्यापक है, इकाई में है और समस्त रूपबन्ध में एक महान बौद्धिक पूर्णता के रूप में वर्तमान है।'

इस निर्माण कुशला प्रतिभा को अंग्रेजी साहित्य के मान्यकवि तथा आलोचक कोलरिज इसे 'इसेम्लेस्टिक इमैजिनेशन' (Esemplastic

18. पाश्चात्य काव्यशास्त्र : एकदृष्टि पृष्ठ 72

imaginate) **के नाम से पुकारते है।**[19] कोलरिज की विचारधारा के ऊपर नव्य प्लेटोवाद का विशेष प्रभाव पड़ा है। इस वाद का सिद्धान्त यह है कि अव्यक्त प्रकृति के ऊपर द्रष्टा के दैवी संकल्प के संस्कार (Impreso) पड़ने पर प्राकृतिक व्यवस्था का उदय होता है। प्राकृतिक प्रपञ्च इस परिवर्तन शील जगत में अपरिवर्तन शील तथा नित्य आदर्श के प्रतीक है। दैवी प्रत्यय एक अपरिच्छेद आदर्श है जिसकी अनुकृति विश्व की घटनाओं तथा पदार्थों की रचना में उपलब्ध होती है। मोम के ऊपर जिस प्रकार किसी मुहर को दबाकर चिन्ह बनाया जाता है उस प्रकार प्रकृति के ऊपर भगवान के संकल्प का चिन्ह नहीं पड़ता। प्रकृति स्वतः विकासशील है। भागवत संकल्प में एक विशिष्ट प्रकार की रचनात्मक शक्ति होती है जो प्रकृति में नित्य रूप की अभिव्यक्ति किया करती है-The impress of divine mind upon matter is not like the impress of seal or wax, for nature to him was something organic and involving, the divine mind does not stamp itself upon matter in one fixed and determinate act, but works through the agency of a plastic power which brings new from into bring by a process of growth.[20]

यहाँ पर प्लास्टिक पावर (plastic power) का अर्थ है अनगढ़ वस्तुओं को सुदृढ़ बनाने की कला तथा अमूर्त पदार्थों को मूर्तिप्रदान करने की शक्ति। ईश्वर में उस विचित्र शक्ति की सत्ता कोलरिज स्वीकार करते हैं। कवि भी प्रजापति के समान स्रष्टा है। ईश्वरीय सृष्टि के अनुरूप ही कवि सृष्टि अमूर्त पदार्थों को मूर्त रूप प्रदान करती है। इसके लिए कवि के पास प्रधान साधन है प्रतिभा जो इस शक्ति के सम्पन्न होने के कारण **'इसेमप्लास्टिक'** Esemplastic या मूर्तिविधायिकी शक्ति से युक्त मानी गयी है। इसीलिये कोलरिज ने अनेक स्थलों पर कवि प्रतिभा की तुलना सृष्टि के ईश्वरीय कार्य से की है। उनकी यह विख्यात उक्ति है-"A Repetition in the finite mind of etrnal act of creation in the infinites I am"[21] अर्थात् अपरिच्छिन्न चैतन्य

19. पाश्चात्य काव्यशास्त्र एक दृष्टि पृष्ठ 73

20. वही पृष्ठ 89

21. वही पृष्ठ 82

के नित्य सृष्टि कार्य को परिच्छिन्न चैतन्य में पुनरावृत्ति। कवि उसी प्रकार काव्य स्रष्टा है जिस प्रकार ईश्वर जगत् स्रष्टा। इसी तुलना के आधार पर वह कहता है कि काव्यरचना विचार का प्रतीक है। जिस प्रकार प्राकृतिक पदार्थ ईश्वर के विचार के प्रतीक होते है, उसी प्रकार काव्यसृष्टि कवि के विचार की प्रतिनिधि होती है। कोलरिज की यह विचार धारा पूर्वोक्त भारतीय सिद्धान्त के अनुरूप है।

5.7 जॉक मारिते

यह आश्चर्य का बात है कि सर्जनात्मक सहजानुभूति पर प्रमुख रूप से विचार करने वाले फ्रासीसी सौन्दर्यशाली जॉक मारिते के अनुसार काव्य के मूलभूत तत्वों के अन्वेषण के लिये प्रथम कवि या ईश्वर की ओर दृष्टिपात करने से बढ़कर और कोई उपाय नहीं है। कवि भी ईश्वर के समान ही एक स्रष्टा है। जॉक मारिते की इस मान्यता का अभिनवगुप्त ने भी प्रतिभा को स्वातन्त्रय रूपिणी कहा है। जॉक मारिते ने सहानुभूति को मनुष्य के अहं से सर्वथा भिन्न और विकसित बताते हुए काव्यसृजन को अंहशून्य अन्यसक्त व्यापार कहा है।[22]

इस प्रकार इनका कहने का अर्थ हैं कि द्रष्टा होते ही व्यक्ति शब्द स्रष्टा भी बन जाता है चाहे वह शब्द बाहर अभिव्यक्ति न होकर हृदय कुटी में ही रह जाता है। राजशेखर के शब्दों में ऐसा व्यक्ति हृदय कवि कहलाता है–**'यो हृदय एव कवते निहुते च स हृदयकविः**। जो हृदय में ही करता है तथा छिपा लेता है वह हृदय कवि कहलाता है।

5.8 पी॰ वी॰ शैली

कोलरिज के सिद्धान्तों के ऊपर नव्यप्लेटोवाद का विशेष प्रभाव पड़ा है। वे कतिपय अंशो में प्लेटो के भी ऋणी है। प्रतिभा–विषयक पाश्चात्य कल्पना का मूल स्त्रोत यूनानी आलोचकों के ग्रन्थों में अधिकतर उपलब्ध होता है। पाश्चात्य आलोचना काव्य को कवि के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति मानता है। काव्य–व्यापार के कारण ही काव्य का उदय होता है और इस व्यापार को सफल तथा समर्थ बनाने में सबसे अधिक प्रभावशालिनी शक्ति **'प्रतिभा'** (be Sftus'ku Imagination) है। पाश्चात्य आलोचक इस शब्द पर इतना आग्रह

रखता है कि काव्य की विविध परिभाषाओं में यह सर्वदा वर्तमान रहता है। कविवर शैली काव्य की अपनी सुप्रसिद्ध परिभाषा में काव्य को प्रतिभा की ही अभिव्यंजना मानते हैं-Poetry is the expression of imagination.[23]

अंग्रेजी साहित्य में स्वच्छन्दतावाद (Romanticism) के युग में कवियों की यह विख्यात मान्यता रही है कि जड़ पदार्थ को अपनी इच्छानुसार नवीन रूप में ढ़ालने की शक्ति परमात्मा में रहती है। जड़पदार्थ उस शक्ति के प्रभाव को यथाशक्ति निरोध करता रहता है, परन्तु वह विधायिका शक्ति (plastic power) इतनी प्रबल तथा प्रभविष्णु होती है कि जड़प्रकृति के निरोध की परवाह न कर चूर्ण विचूर्ण कर उसे अपनी इच्छा की वशवर्तिनी बनाती है-अपने ढ़ाचे में ढालकर उसे स्वाभिलषित रूप प्रदान करती है। यही विधायिका शक्ति कवि में प्रतिभा के नाम से पुकारी जाती है। काव्य कवि की प्रतिभा-शक्ति के कौशल का विलास है। कवि पदार्थों के ऊपर अपनी छाप लगाकर, अपने साँचे में ढालकर उन्हें नवीन रूप ग्रहण करने के लिये बाध्य करता है। इसीलिये कवि की प्रतिभा विश्व स्रष्टा भगवान् के सर्जन-शक्ति का प्रतीक है। शैली अपने दिवंगत सुहृदय कीट्स की स्मृति में इसी धारणा की कवित्वमयी अभिव्यक्ति कर रहे है-

He is a portion of the loveliness
which once he made more lovely; he doth bear
his part, while the one spirits plastic stress
sweeps through the dull dense world,
Compelling there
all new successions to the forms they wear ;
Torturing the unwilling dross that checks
its flight
To its own likeness as each mass may bear;
and bursting in its beauty and its might

22. समीक्षाशास्त्र के भारतीय तथा पाश्चात्य मानदण्ड पृष्ठ 62
23. भारतीय साहित्यशास्त्र प्रथम खण्ड पृष्ठ 334-335

from trees and beasts and men it's the
Heaven's light.[24]

-Adonais

5.9 काण्ट

प्रतिभा के विषय में दार्शनिक प्रवर काण्ट (Kant) तथा आलोचक-प्रवर कोलरिज (Coleridge) का मत विशेष सादृश्य रखता है।

दार्शनिक शिरोमणि काण्ट की दृष्टि में कल्पना के तीन प्रकार होते है:-

1.सम्मेलक प्रतिभा-

'रिप्रोडक्टिव इमैजिनेशन (Reproductive Imagination) इसके व्यापार स्वतन्त्र नहीं होते, क्योंकि वह मानव बुद्धि के सामने पूर्व से ही उपस्थित होने वाले पदार्थों का केवल मिश्रण प्रस्तुत करती है। इस दृष्टि से यह कोलरिज के द्वारा व्याख्यात फैन्सी की समानता रखती है। यह मानव बुद्धि की आरम्भिक प्रवृत्ति है। जब मनुष्य आरम्भ में प्रकृति का निरीक्षण करता है, तब वह केवल नीरस अंगो पर ही दृष्टि डालता है। अवलोकित अंश इतस्तत: विकीर्ण ही रहते है। उन्हें एकरूप में अंकित करने की क्षमता नहीं होती। ये इतस्तत: संकलित विचार केवल स्मृति रूप में होते हैं। उनमें जीवन नहीं होता। ये चित्र स्वत: निर्जीव, निष्प्राण तथा निराधार होते हैं। यह कार्य प्रतिभा से भिन्न फैन्सी का होता है-**Fancy on the contrary has no other counters to play with but fixities and difinites. The fancy is indeed no other than a mode of memory emancipated from the order of time and place.**[25]

कोलरिज की दृष्टि में फैन्सी समय तथा स्थान के क्रम से उन्मुक्त स्मृति का एक प्रकार मात्र है। भारतीय दर्शन की दृष्टि में यह स्मृति का ही एक रूप है।

24. भाररतीय साहित्यशास्त्र प्रथम खण्ड पृष्ठ 334-335

25. वही पृष्ठ 337

2.उत्पादक कल्पना –

'प्रोडक्टिव इमैजिनेशन' (Productive Imagination) काण्ट के अनुसार इसका रूप निम्नलिखित शब्दों में अभिव्यक्त किया जा सकता है–It enables the mind to create perceptions from the raw material of sense data and by bringing sensation and understanding together enables the latter to carry on its work of discursive reasoning.[26]

कोलरिज का भी यही कथन है। उनसे पहिले अंग्रेज दार्शनिकों की यही मान्यता थी कि प्रत्यक्ष इन्द्रियों के द्वारा अनुभूत रूप–रंग आदि का एक समुच्चय होता है, परन्तु कोलरिज की दृष्टि में मस्तिष्क स्वयं क्रियाशील होता है। यह केवल क्रियाहीन पदार्थ नहीं होता जिसमें रूप रंग आदि इन्द्रियजन्य अनुभूति स्वयं प्रवेश कर निवास करती है। प्रत्यक्षानुभूति के समय मस्तिष्क स्वयं क्रियाशील होता है और इन्द्रिय जन्य पदार्थों को एकता के सूत्र में शक्ति विशेष के सहारे बाँधता है जिसका अभिधान है (Primary Imagination) आरम्भिक कल्पना। अनुभव के समय इन्द्रियों के द्वारा जो वस्तु गृहीत होती है वह इन्द्रियजन्य वस्तुओं की एक अव्यवस्थित राशि होती है जिसके ऊपर द्रष्टा का मन एक मूर्ति तथा व्यवस्था निर्धारित करता है–The mind is active in preception and bring together the sense-data by a power which he calls the primary Imagination so that they seem as an object and not merely the sum of detached sensations.

इसी के कारण हम पदार्थों के यथार्थ रूप को देखने तथा जानने में समर्थ होते है। काण्ट **'उत्पादक कल्पना'** शब्द के द्वारा यह दिखलाना चाहते है कि यह कल्पना इन्द्रियजन्य अनुभव का केवल संघात नहीं है, प्रमुख उस अनुभव के द्वारा उत्पादित एक स्वतन्त्र अनुभूति है। इस दृष्टि में यह कल्पना नैयायिकों के 'सर्विकल्पक प्रत्यक्ष' का प्रतिनिधि है जिसमें इन्द्रियजन्य अनुभव का परस्पर तारतम्य मिलाकर बुद्धि उस पदार्थ को एक नवीन नाम प्रदान करती है।

3. सौन्दर्य कल्पना–

'एस्थेटिक इमैजिनेशन' (Aesthetic Imagination) काण्ट के अनुसार यह

---

26. भारतीय साहित्यशास्त्र प्रथम खण्ड पृष्ठ 338

कल्पना सौन्दर्यानुभूति की जननी होती है। यह केवल विधायक ही नहीं होती, प्रत्युत स्वतन्त्र होती है। कवि इसी कल्पना के बल पर नवीन पदार्थों को, नूतन अनुभूतियों को, जन्म दिया करता है। कोलरिज के मतानुसार इसका अभिधान है अमुख्य प्रतिभा। वह प्रारम्भिक कल्पना के द्वारा उपस्थित अनुभूतियों का विश्लेषण तथा विभाजन करती है तथा उसका नवीन ढंग से निर्माण कर एक विचित्र सरस पदार्थ की रूपरेखा हमारे मानव पटल पर खीच देती है।

प्रतिभा का प्रधान कार्य है पुननिर्माण। प्रकृति के इन्द्रिय-साध्य अंशो को ग्रहण कर उन्हें अपनी अभिरूचि तथा भावना के अनुसार पुनः निर्माण करना कवि की प्रतिभा का महत्वपूर्ण कार्य होता है। प्रकृति के पदार्थों का ज्ञान होता है। हमें इन्द्रियों के द्वारा ही और यह ज्ञान होता है, स्वभावतः अपूर्ण। जगत् का आंशिक रूप ही हमें इन्द्रियों के साधनों के द्वारा प्राप्त होता है। इसी उपादान को ग्रहण कर कवि की कल्पना शक्ति प्रवृत्त होती है। कवि की प्रतिभा इन्हीं बिखरे हुए अंशों को अव्यवस्थित अवयवों को परस्पर मिलाकर एक पूर्ण तथा परस्पर-सम्बन्ध चित्र प्रस्तुत करती है। इसीलिये प्रतिभा जीवित तथा क्रियाशील होती है। कोलरिज की यह समीक्षा नितान्त प्रामाणिक है-Imagination dissolves, diffuses, dissipates in order to recreate, or where the process is rendered impossible, yet still at all events it struggles to idealise and to unify. It is essentially vital, even as all objecs (as objects) are essentially fixed and dead.[27] अर्थात् प्रतिभा पदार्थों को अवयवश छिन्न-भिन्न करके देखती है। इसका पुनः निर्माण करना अभिप्राय होता है। परन्तु जहाँ यह प्रक्रिया एकान्त असम्भव होती है, वहाँ प्रत्येक दशा में यह वस्तु को आदर्श रूप में अंकित करने और एकता उत्पन्न करने में उद्यमशील रहती है। मुख्यतः प्रतिभा जीवित, प्राण-सम्पन्न होती है जिस प्रकार पदार्थत्वेन समग्र पदार्थ मुख्यतः निश्चित रहते है और प्राणहीन होते है। प्रतिभा की यह प्रक्रिया तथा रूप निर्देश नितान्त सत्व है।

5.10 मैथ्यू आर्नण्ड -

मैथ्यू आर्नण्ड ने उत्कृष्ट साहित्य की रचना के लिये दो शक्तियों का साथ-साथ होना आवश्यक माना है-कारयित्री शक्ति और युग की शक्ति। कारयित्री शक्ति

27. भारतीय साहित्यशास्त्र प्रथम खण्ड पृष्ठ 339

से उसका अभिप्राय सर्जन कौशल से ही और युग की शक्ति अर्थ है दर्शन शक्ति या समीक्षा शक्ति जीवन और जगत को विशद रूप में जानना।[28] वह कवि के लिए आवश्यक मानता है कि वह इस बात का पता लगाने कि उसके युग का जीवन किस प्रकार की व्यवस्था का अधिकारी है और इस ज्ञान को काव्य के माध्यम से प्रदान करे।

आर्नण्ड का मत था कि **'महान् कविता रची नहीं जाती वह स्वयं फूट पड़ती है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि कवि शक्ति ईश्वर प्रदत्त होती है, उपार्जित नहीं की जा सकती।'**[29] वास्तविक कविता आत्मा में उद्भूत और निर्मित होती है। इसका अभिप्राय है कि काव्य प्रतिभाजन्य होता है, प्रयास साध्य नहीं।

5.11 आई॰ ए॰ रिचर्डस

कवि प्रतिभा को नवनवोन्मेषशालिनी तथा अपूर्ववस्तुनिर्माण क्षमा बतलाया है।[30] प्रतिभा के सम्बन्ध में हमें यह धारणा पाश्चात्य चिन्तन की कल्पना से उसके साम्य पर सोचने को बाध्य करती है। कल्पना-सम्बन्धी अभिमत के सन्दर्भ में रिचर्डस कोलरिज के ऋणी है, अतः वह भी कल्पना का सर्वश्रेष्ठ गुण और कार्य यही मानते है कि वह विभिन्न और विपरीत मनोवेगों तथा अनुभवों में एकत्व तथा सन्तुलन उत्पन्न करती है। वे त्रासदी को इसलिये सर्वश्रेष्ठ काव्यरूप मानते हैं क्योंकि उसमें दो विरोधी भावों-भय और कल्पना को एक साथ उपस्थित कर उनका समन्वय किया जाता है। इस प्रकार रिचर्डस कल्पना का मौलिक कार्य बिम्ब-निर्माण करना नहीं मानते, विरोध परिहार स्वीकार करते है। कल्पना द्वारा कवि उन आवेगों को भी व्यवस्थित करता है जो एक दिशा में समानान्तर रूप से प्रवाहित होते हैं। इसके साथ ही जो एक दिशा में समानान्तर रूप से प्रवाहित होते है और उनको भी जो भिन्न-भिन्न तथा परस्पर विरोधी होते हैं।

कल्पना सम्बन्धी समस्त चिन्तन परम्परा का समाहार करते हुए आई॰ ए॰ रिचर्डस ने कल्पना की निम्नलिखित विशेषताओं का आकलन किया जाता है।

---

28. पाश्चात्य काव्यशास्त्र : एकदृष्टि पृष्ठ 85
29. वही पृष्ठ 87

1. स्पष्ट बिम्ब सर्जना
2. आलंकारिक भाषा-रूपक आदि का प्रयोग
3. **नवोन्मेष अथवा नूतन आविष्कार**
4. दूसरे की मानसिक स्थितियों का पुनः सृजन
5. असम्बद्ध समझी जाने वाली वस्तुओं का पुनः संयोजन
6. परस्पर विरोधी गुणों का समंजन अथवा संतुलन।

इस प्रकार कल्पना में भी नवोन्मेष को एक तत्त्व माना गया है और भारतीय चिन्तकों की प्रतिभा में भी। पश्चिम में कल्पना नूतन सृष्टि विधायिनी शक्ति के रूप मे निरूपित है। लेकिन प्रतिभा पाश्चात्य चिन्तकों की कल्पना से कहीं अधिक व्यापक अवधारणा है, क्योंकि उसमें कल्पना के साथ सहजानुभूति का भी समावेश हो जाता है।

प्रतिभा एक मूल शक्ति है, कल्पना उसकी प्रक्रिया या परिणति है। प्रतिभा के बल पर ही कल्पना सजग और सक्रिय होती है और बिम्ब रचना की प्रक्रिया आरम्भ करती है। कल्पनागत अन्य प्रक्रियाओं को भी परिणतियों के सहारे हम प्रतिभा का अनुमान लगाते हैं, और उसका अवगाहन करते हैं। प्रतिभा की परिणितियाँ साहित्य में अनेक रूपों में देखी जाती है, जिनमें से कल्पना क्षेत्र की परिणितियाँ एक प्रकार की है। इस प्रकार प्रतिभा को एक मूलभूत सर्जना शक्ति के रूप में माना जाना चाहिए।

***

30. समीक्षाशास्त्र के भारतीय तथा पाश्चात्य मानदण्ड पृष्ठ 488-490

षष्ठ अध्याय

आधुनिक संस्कृत काव्यशास्त्र में प्रतिभा

जिस प्रकार इन पूर्ववर्ती विभिन्न विद्वानों ने अपनी सूक्ष्म दृष्टि द्वारा प्रतिभा पर अपने-अपने मतों को प्रकट किया है, उसी प्रकार इस काव्यशास्त्रीय परम्परा का अनुसरण करते हुए एवं उसको आगे की तरफ बढ़ाते हुए आधुनिक संस्कृत काव्यशास्त्रीय विद्वानों ने भी अपनी अद्भुत कुशलता का परिचय देते हुए प्रतिभा सम्बन्धी मत को अपने-अपने ढंग से व्यक्त किया है जिसका अध्ययन इस प्रकार है।

6.1 पं. श्रीपाद शास्त्री हसूरकर

पं॰ श्रीपाद शास्त्री हसूरकर ने अपने साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थ 'साहित्यमञ्जरी' में आचार्य मम्मट प्रतिपादित काव्यकारण को स्वीकार करते हुए उन्हीं के द्वारा दिये गये लाक्षणिक परिभाषा को उतार दिया है। इन्होंने शक्ति को ही प्रतिभा माना है-

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥[1]

इसका उल्लेख डॉ॰ राजमङ्गल यादव ने भी अपने ग्रन्थ 'संस्कृत काव्यशास्त्र की अर्वाचीन परम्परा' के पृष्ठ 157 पर किया है।

6.2 श्री कौत्स अप्पल्ल सोमेश्वर शर्मा

श्री कौत्स अप्पल्ल सोमेश्वर शर्मा ने भी अपने साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थ साहित्यविमर्श में पूर्वाचार्यों द्वारा प्रतिपादित प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास का

1. साहित्यमञ्जरी पृष्ठ-1

समीक्षण करते हुए प्रतिभा को काव्य का प्रधान कारण माना तथा व्युत्पत्ति और अभ्यास को उसकी सहायक सामग्री के रूप में उपन्यस्त किया है-**अतः काव्योत्पत्तौ प्रतिभैव प्रधानं कारणम्। सत्यां तस्यां यदि व्युत्पत्त्याभ्यासौस्तस्तर्हि हेम्नः परम्प्रमोद इत्यवश्यमभ्युपेयम्। समुदितहेतुवादिनां मते तु प्रतिभायास्सत्वेऽपि व्युत्पत्त्यभ्यासयोरभावे काव्यस्यानुपत्तिरेवापद्येत। सामग्रया असंपूर्णत्वात्। न हि तथाविधोऽनुभवः। अतो युक्त्यनुभवानुरोधात्प्रतिभाया एव काव्यकारणत्वमङ्गीकार्यम्।**[2]

आचार्य कौत्स अप्पल्ल सोमेश्वर शर्मा ने अपने ग्रन्थ साहित्य विमर्श में ही प्रतिभा के बारें में कहा है कि-**स च जन्मान्तरसुकृतागतो देवतामहापुरुषप्रसादादिजन्यो वा कवित्वबीजरूप संस्कार विशेषः।**[3] अर्थात् यह प्रतिभा अन्य जन्मों के पुण्य कर्मों से प्राप्त तथा देवताओं अथवा महापुरुषों के कृपा प्रसाद से उत्पन्न हुआ कवित्व बीज रूप संस्कार विशेष है।

इसका उल्लेख डॉ० राजमङ्गल यादव ने भी अपने ग्रन्थ 'संस्कृत काव्यशास्त्र की अर्वाचीन परम्परा' के पृष्ठ 157 पर किया है।

6.3 आचार्य छज्जूराम शास्त्री

काव्यशास्त्र के अनेक आचार्यों ने प्रतिभा को काव्य का प्रमुख कारण माना है तथा व्युत्पत्ति और अभ्यास को उसके सहायक के रूप में प्रतिपादित किया है, परन्तु शास्त्री जी ने अपने ग्रन्थ साहित्यबिन्दु में आचार्य मम्मट का अनुसरण करते हुए तीनों की समान रूपता को प्रकट किया है। इन्होंने काव्यनिर्माण में व्युत्पत्ति (बोध), शक्ति (संस्कार विशेष) और अभ्यास तीनों की तुल्य कारणता को प्रतिपादित किया है। उनका मत है कि काव्य के प्रादुर्भाव में तीनों मिलकर ही कारण है; पृथक्-पृथक् नहीं-

तस्य काव्यस्य निर्माणे समुल्लासे प्रचारणे।
व्युत्पत्तिः शक्तिरभ्यासः त्रयं हेतुर्न हेतवः।।[4]

2. साहित्यविमर्श द्वितीय परिच्छेद पृष्ठ-36
3. वही पृष्ठ-36
4. साहित्य बिन्दु-प्रथम बिन्दु कारिका 9-10

इसका उल्लेख डॉ॰ राजमङ्गल यादव ने भी अपने ग्रन्थ 'संस्कृत काव्यशास्त्र की अर्वाचीन परम्परा' के पृष्ठ 158 पर किया है।

6.4 प्रो॰ रेवाप्रसाद द्विवेदी

प्रो॰ रेवाप्रसाद द्विवेदी ने अपने साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थ काव्यालंकारकारिका के द्वितीय अधिकरण में प्रतिभा के बारें में कहा है कि-

सा चार्थ-प्रतिभासनम्।
प्रज्ञाकादम्बनी-गर्भे विद्युदुद्योत-सोदरम्॥[5]

अर्थात् अर्थों का प्रकाशित होना ही प्रतिभा है। यह प्रज्ञारूपी मेघमाला के अर्न्तगत विद्युत के झलक के समान होती है। इसके पश्चात् पुनः इन्होंने कहा कि भगवान के कृपा पात्र नारद आदि के चित्त में अपने स्वरूप का दर्शन जिस प्रकार होता है, उसी प्रकार की प्रतिभा होती है-

नारदादि-कृपापात्र-चेतोधातौ जगत्प्रभोः।
प्रथमं स्व-स्वरूपस्य दर्शनं यत् तदीदृशम्॥[6]

इसके बाद इन्होंने कहा है कि योग का अनुष्ठान करने वाले साधकों के हृदय में दिव्य शब्द, दिव्य स्पर्श, दिव्य रूप और दिव्य गन्ध आदि विषयों के सम्बन्ध में जिस प्रकार ज्योतिषमती प्रवृत्ति होती है, प्रतिभा उसी की बहन (स्वसा) होती है-

समाधौ योगलग्नानां हृदये विषयान्विता।
ज्योतिष्मती प्रवृत्तिर्या तत्स्वसा प्रतिभा कवेः॥[7]

यह प्रतिभा दो प्रकार की होती है-**1. स्वयंभू प्रतिभा 2. सहेतु प्रतिभा।** इसमें से स्वम्भू प्रतिभा आदि कवि वाल्मीकि में दिखाई पड़ती है और दूसरी सहेतु प्रतिभा अन्य कवियों में दिखाई पड़ती है। यह लोक में द्विविध रूप में प्रत्यक्ष होती है-

---

5. काव्यालंकारकारिका द्वितीय अधिकरण कारिका-11
6. वही द्वितीय अधिकरण कारिका-12
7. वही द्वितीय अधिकरण कारिका-13

स्वयंभूश्च सहेतुश्चेत्यसौ लोके द्विधास्थिता।
आदिमाऽऽदिकवौ दृष्टा द्वितीयान्यत्र दृश्यते।।[8]

दूसरी प्रतिभा सहेतु के अनेक कारण बतलाये किन्तु फिर भी इसका एकमात्र कारण **सत्वोद्रेक** ही होता है। और यह सत्व का उद्रेक रज और तम के सम्बन्ध रहने से अनेक प्रकार की विचित्रता को प्राप्त करता है। इसी कारण से एक ही कवि के काव्यों में अनेक प्रकार के रचना बन्ध मिलते है क्योंकि जिस प्रकार वसन्त काल में उपवन के वृक्षों की शोभाएँ भिन्न-भिन्न होती है उसी प्रकार एक ही कवि में प्रतिभा के अनेक भेद दिखलाई पड़ते है। क्योंकि बिजली की चमक सदैव एक रूप वाली नहीं होती है-

द्वितीया या भवन्त्यत्र कारणानि बहून्यपि।
कारणं तु भवत्यत्र सत्वोद्रेको हि केवलः।।
रजस्तमोऽनुवेधानां संख्यातीता तु या स्थितिः।
उद्रेकोऽप्यनया सोऽयमतिवैचित्र्यमश्नुते।।
एकस्यापि कवेः काव्य-प्रबन्धे येन दृश्यते।
बन्धभेदो मधूद्याने वृक्ष-श्री-भेदसोदरः।।[9]

प्रो० द्विवेदी ने अपने ग्रन्थ नाट्यानुशासन के पञ्चम उन्मेष में कहा है कि-

सर्वेषामपि भावानां कलासु प्रतिभात्मता।
प्रतिभासिकसत्तात्मेत्युच्यतां दर्शनेषु सा।।[10]

अर्थात् कलाओं में सभी भावों की आत्मा प्रतिभा होती है। दर्शन ग्रन्थों में उसी को प्रातिभासिक सत्ता कहा जा सकता है।

इसका उल्लेख डॉ० राजमङ्गल यादव ने भी अपने ग्रन्थ 'संस्कृत काव्यशास्त्र की अर्वाचीन परम्परा' के पृष्ठ 158-159 पर किया है।

---

8. काव्यालंकारकारिका द्वितीय अधिकरण कारिका-14
9. वही द्वितीय अधिकरण कारिका-15-17
10. नाट्यानुशासन पंचम उन्मेष कारिका-55

6.5 डा॰ ब्रह्मनन्द शर्मा

डा॰ ब्रह्मनन्द शर्मा ने अपने साहित्य शास्त्रीय ग्रन्थ '**काव्यसत्यालोक**' के पंचम उद्योत में कहा है कि-

शक्तिः श्रमश्च काव्यस्य, कारणमिति मे मतिः।
शक्तिरत्र प्रधाना स्यात्, श्रमस्याप्युपयोगिता।।[11]

अर्थात् इन्होंने शक्ति और श्रम को काव्य निर्माण में हेतु मानते हुए शक्ति को प्रधान कहा तथा श्रम की उपयोगिता को भी स्वीकार किया तथा प्रतिभा को शक्ति के नाम से पुकारा।

इसका उल्लेख डॉ॰ राजमङ्गल यादव ने भी अपने ग्रन्थ 'संस्कृत काव्यशास्त्र की अर्वाचीन परम्परा' के पृष्ठ 159 पर किया है।

6.6 पं॰ गिरिधर लाल व्यास

पं॰ गिरिधर लाल व्यास जी ने अपने साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थ **अभिनवकाव्यप्रकाश** के प्रथम उन्मेष में पूर्ववर्ती साहित्यशास्त्रीय आचार्य मम्मट के द्वारा प्रतिपादित काव्यकारण को मानते हुए प्रतिभा की महत्ता को प्रकट किया है-

प्रदर्श्यतेऽधुना काव्यकारणं विवुधैर्मतम्।
येन वाग्वैभवं विज्ञिर्विश्वेऽस्मिन् वै प्रतन्यते।।
भणता भामहेनाथ प्रतिभा काव्यकारणम्।
व्युत्पत्त्यभ्याससहिता नूनं तत्रैव संस्मृता।।

इस प्रकार इन्होंने **प्रतिभा** की परिभाषा करते हुए कहा है कि-'**मनः प्रसत्तिः प्रतिभा।**'[12] अर्थात् मन की प्रसन्नता ही प्रतिभा है।

इसका उल्लेख डॉ॰ राजमङ्गल यादव ने भी अपने ग्रन्थ 'संस्कृत काव्यशास्त्र की अर्वाचीन परम्परा' के पृष्ठ 160 पर किया है।

---

11. काव्यसत्यालोक पंचम उद्योत कारिका-68
12. अभिनवकाव्यप्रकाश प्रथम उन्मेष कारिका-260-319

6.7 प्रो॰ शिवजी उपाध्याय

प्रो॰ शिवजी उपाध्याय ने अपने ग्रन्थ **'साहित्यसन्दर्भ'** के काव्यस्वरूप विमर्श में कहा है कि-

'स्वयम्भूकविरेकोऽसौ परिभूय मनीषया।
काव्यमातनुते किञ्चिद् लोकोत्तरमनुत्तमम्॥'[13]

अर्थात् नये-नये उन्मेष वाली अपनी प्रज्ञा ही प्रतिभा है। इस प्रतिभा से चारों ओर से व्याप्त होकर लोकोत्तर वर्णन की निपुणता से यह जगत विख्यात अद्वितीय सर्वद्रष्टा कवि लोकोत्तर चमत्कार जनक और उत्तमोत्तम काव्य की रचना करता है-

तदालोक वंशाल्लोके कविकर्म प्रशस्यते।
तद्वत्तल्लक्षणं तस्मात्काव्यत्वस्यप्रमापकम्॥[14]

इसकी वृत्ति के रूप में कहा है कि-**लोकोत्तरवर्णनानैपुण्येनासौ जगद्विश्रुतएकोऽद्वितीयसंख्यावान् कविः क्रान्तदर्शी सर्वदृक् किमपि लोकोत्तरं चमत्कारजनकमनुत्तममुत्तमोत्तमञ्चं। काव्यं स्वकर्तृताविशिष्टं कर्मातनुते प्रसारयति।**[15]

इसका उल्लेख डॉ॰ राजमङ्गल यादव ने भी अपने ग्रन्थ 'संस्कृत काव्यशास्त्र की अर्वाचीन परम्परा' के पृष्ठ 161 पर किया है।

6.8 डॉ॰ हरिश्चन्द्र दीक्षित

डॉ॰ हरिश्चन्द्र दीक्षित ने कहा है कि **काव्य में एक स्वगत प्रतिभा होती है, जो कवि को काव्यसर्जन के लिए प्रेरित करती है।** वाच्यार्थबोध से आनन्दानुभावक वाक्यरूप काव्य की प्रमुख हेतु प्रतिभा है। **कल्पना और उपयुक्त अभिव्यक्ति की सहज शक्ति को प्रतिभा कहते है।** अमन्द

13. साहित्य सन्दर्भ-काव्यस्वरूपविमर्श कारिका-11-12 तथा उसकी वृत्ति
14. वही कारिका-11-12 तथा उसकी वृत्ति
15. वही वृत्ति भाग

अभ्यास, स्वाध्याय अथवा गुरुशिक्षा से उपयोगी शास्त्रों और काव्यों का ज्ञान तथा लोकानुभव–काव्यरचना के अन्य हेतु हैं। प्रतिभा होने पर इन हेतुओं में कवि की स्वतः प्रवृत्ति होती है। पशु–पक्षियों और स्त्री–पुरुषों के रूपों, स्वभावों और भावानुभाव का ज्ञान विविध लोक व्यवहारों का ज्ञान और प्रकृतिगत सरित्पर्वतादि के रूपों का ज्ञान लोकानुभव कहलाता है। इन्हीं रूपादिवस्तुओं के रूपादिभावक और धार्मिकादि विचारों के मनः प्रेरक या अलंकृत सशब्द सौन्दर्य वर्णन से काव्य की रचना होती है। **कल्पना वह शक्ति है, जिससे विभिन्न वस्तुओं के रूपों का अस्थूल परिवर्तन और परस्पर आरोप किया जा सकता है, किन्तु अन्ततः जिससे वस्तुओं का केवल रूप निर्धारित होता है। प्रतिभा की भी कोटियाँ होती है, अन्यथा कविकोटि भेद न हों।**[16]

इसका उल्लेख डॉ॰ राजमङ्गल यादव ने भी अपने ग्रन्थ 'संस्कृत काव्यशास्त्र की अर्वाचीन परम्परा' के पृष्ठ 160–161 पर किया है।

6.9 डॉ॰ रमाशंकर तिवारी

डॉ॰ रमाशंकर तिवारी ने अपने '**काव्यतत्त्व विवेककारिका**' संग्रह नामक ग्रन्थ में प्रतिभा के बारें में कहा है कि–

प्रतिभा जननी कविकर्मणश्च।
कथ्यते सैव शक्तिः काव्यसुविज्ञैः॥
उद्‌बुध्यते सा ह्यनपेक्षितक्षणेषु।
विशिष्टायां वा मनसो दशायाम्।
विविधत्वं तस्या एके वदन्ति।
नो युक्तियुक्तं तेषां विगणनम्॥[17]

अर्थात् कवि कर्म को उत्पन्न करने वाली प्रतिभा होती है और उसी को काव्य वेत्ताओं के द्वारा शक्ति कहा जाता है, यह अनपेक्षित क्षणों अथवा मन की विशिष्ट दशा मे उत्पन्न होती है। इसके पश्चात् इन्होंने कहा है कि–

16. काव्यतत्त्वविमर्श तथा काव्यात्मा पृष्ठ–22
17. वही कारिका–4–6

निर्मितनिपुणा प्रज्ञा हि प्रतिभा।
प्रकाशयति काव्यलोकं समग्रम्।।
क्रान्तदर्शित्वं सिध्यति कवीनाम्।
तस्याः प्रसादेन प्रजापतित्वम्।।[18]

अर्थात् निर्मिति निपुण प्रज्ञा ही प्रतिभा है और वह समग्र काव्यलोक को प्रकाशित करती है। क्रान्तदर्शी कवि उसी के प्रसाद से अपने प्रजापतित्व की सिद्धि करते हैं। प्रतिभा के सहायक के रूप में व्युत्पत्ति और अभ्यास को स्वीकार किया है, क्योंकि समाधि भी प्रतिभा को पुष्ट करती है किन्तु वह प्रतिभा का स्थान ग्रहण नहीं कर सकती।

आचार्य ने पाश्चात्य काव्य शास्त्रीयों के कल्पना के बारें में कहा है कि पाश्चात्य विद्वानों ने कल्पना को प्रतिभा के समान माना है श्रेष्ठ काव्य की रचना में प्रतिभा को सौन्दर्य भोगिनी कहा है कुछ लोग इसे उत्तर कल्पना कहते है-

कल्पना प्रस्तूयते शास्त्रगणने।
पाश्चात्त्यैः खल्विव तुल्यवृत्तिः।
प्रतिभायस्तु प्रवरकाव्यरचने।।
सौन्दर्यभोगिनी तृच्यते स्म।
उत्तरा कल्पना कतिपयैश्च।।
कला ह्यश्नुते गौरवं हेतुतायाः।
प्रतिभान्तरेण यवनचिन्तने वा।।
लोञ्जाइंसेन समाधीयते स्म।
द्वन्द्वं प्रतिभाकलयोरुदात्ते।।[19]

रामचरितमानस में तुलसीदास जी ने प्रस्तुत चौपाइयों में काव्यसर्जन की प्रक्रिया का वर्णन किया है-

---

18. काव्यतत्त्वविवेककारिका संग्रह-कारिका कारिका 7-8
19. वही 11-16 पृष्ठ-121-125

हृदयसिन्धु मति सीप समाना। कहहिं शारदा स्वाति सुजाना।
जौं बरसईं वर बारि विचारू। होहिं कवित मुकुतामनि चारू।।[20]

डा॰ शंकरदेव अवतरे

डा॰ शंकरदेव अवतरे ने अपने साहित्य शास्त्रीय ग्रन्थ **अभिनवकाव्यशास्त्रम्** के द्वितीय आयाम-काव्यप्रक्रिया में कहा है कि शक्ति निपुणता और अभ्यास के अविभाज्य योग से प्रतिभा का जन्म होता है जैसे ब्रह्म अनासक्त होकर भी जड़ चेतन प्रकृति की अन्तः यात्रा करने वाला होता है इसी के द्वारा ही काव्य का निर्माण होता है-

काव्ये त्रित्त्वान्वयी हेतुः प्रतिभानामकः कवेः।
प्रकृत्यन्तः प्रवेशार्होऽप्यसक्तस्येव वेधसः।।
शक्तिर्निपुणताभ्यासस्त्रिकं काव्यस्य कारणम्।
प्रतिभाश्रुत्यभियोगपर्यायेणापि तद् विदुः।।[21]

सुखद आश्चर्य की बात यह है कि पाश्चात्यकाव्यशास्त्रियों ने भी काव्यनिर्माण के हेतु के रूप में स्वीकारा है, या फिर प्रतिभा (कवित्वशक्ति), नियमबोध (निपुणता) और अनुशीलन (अभ्यास) के रूप में त्रित्त्वान्वयी को काव्य-हेतु माना है- **सहजा प्रतिभा काव्यहेतुस्त्रित्त्वान्वयी तथा केवलं शब्दभेदेन पाश्चात्त्यैरपि मन्यते।।**[22]

इसका उल्लेख डॉ॰ राजमङ्गल यादव ने भी अपने ग्रन्थ 'संस्कृत काव्यशास्त्र की अर्वाचीन परम्परा' के पृष्ठ 163 पर किया है।

6.10 प्रो॰ अमरनाथ पाण्डेय

प्रो॰ अमरनाथ पाण्डेय ने '**काव्यसिद्धान्तकारिका**' में कहा है कि काव्य का निर्माण प्रतिभा के द्वारा होता है। आचार्य ने अपने ग्रन्थ में प्रतिभा के विस्तार के लिये भगवानशिव, शक्ति, देवीसरस्वती तथा देवताओं से प्रार्थना की है-

20. रामचरितमानस-बालकाण्ड दोह 10 की चौपाई 4-5
21. अभिनवकाव्यशास्त्रम् द्वितीय आयाम काव्यप्रक्रिया सूत्र 15-16 कारिका 53-54
22. वही काव्यप्रक्रिया सूत्र 15-16 कारिका 57

शिवं स्तुवाना सुषमां दधाना नवार्थरीतिञ्च सदाश्नुवाना।
परप्रकाशैः सुभगैर्विलासैर्देवी हितं मे प्रतिभा तनोतु।।
परप्रसादो महितो हितो मे सर्वस्वमूलं ललिते निकामम्।
अपास्य सर्वं दुरितं तमांसि चित्तप्रसादं त्वरितं तनोतु।।
देवैः स्तुता कर्मणि योजयन्ती सृष्टेः सतत्त्वं कलया दिशन्ती।
आनन्दसिन्धौ मुदिता शिवेन काव्यं शिवं मे प्रतिभा तनोतु।।[23]

पाश्चात्य काव्यशास्त्रिओं के कल्पना सम्बन्धी मत को आरेखित करते हुए उसके स्वरूप के बारें में कहा है कि कल्पना क्या-क्या नहीं साधती अर्थात् सम्पूर्ण काव्य के निर्माण की चित्र रेखा मानसिक पटल पर अंकित कर देती है इसके साथ ही साथ इन्होंने समाधि के दो प्रकारों अन्तर प्रयत्न समाधि और ब्राह्य प्रयत्न अभ्यास दोनों शक्ति को उत्पन्न करते है-

निर्माति भूयिष्ठमशेषचित्रं विश्वं नवं कल्पनयाचिरेणं।।
रूपं यथा भाति विशुद्ध चित्ते तथैव काव्ये फलाति प्रभावात्।
विम्बं विकल्पानतिशय्य साक्षादुदेति कश्चिन्मनुते मनीषी।।
अर्थाः समाधौ निपुणं निरीक्ष्य काव्येऽर्पिताः सन्ततसाधनाभिः।
आरुह्य भूमिं खलु भावयन्तो बुधास्त एव प्रथिता जगत्याम्।।
न तादृशं काव्यमनल्पवित्तं चित्तं स्वभावात् स्ववशे करोति।
यथा गुणैः सा प्रतिभा कवीनां चित्तं चरित्रं प्रकटीकरोति।।[24]

आचार्य ने कहा है कि विशुद्ध चित्त में वर्णनीय वस्तु का उदय होता है ऐसी वस्तु का काव्य में निबंधन करने पर जगत का हित होता है पृथ्वी पर काव्य की यही रीति प्रसिद्ध है और विद्वान के द्वारा यह काव्य भावना से रचा जाता है-

चित्ते विशुद्धे समुदेति वस्तु काव्ये निबद्धं हितमातनोति।
काव्यस्य रीतिर्विितता धरायां विभाव्यते भावनया बुधेन।।[25]

23. काव्यसिद्धान्तकारिका 1-12 अजस्रा जनवरी-अपैल-2001

24. वही 31-43 अजस्रा जनवरी-अपैल-2001

25. वही कारिका 31-43

क्योंकि सत कवियों के मार्ग में दो कार्य काव्य रचना के अधीन है- 1. मोहरूपी मन की विकार का उच्छेदन। 2.मन के विकार का प्रकटीकरण। ईर्ष्यादि दोषों से मलीन चित्त वाले न तो काव्य की रचना कर सकते है और न ही काव्य की समीक्षा कर सकते है ऐसी दशा में थोड़ा बहुत किया गया प्रयत्न भी तुच्छ होता है और शीर्घ नष्ट हो जाता है-

काव्यप्रभावो मनसो विकारमुच्छिद्य मोहं प्रकटीकरोति।
कार्यद्वयं काव्यविधाननिध्नं प्रकाशितं वर्त्मनि सत्कवीनाम्॥
ईर्ष्यादिदोषैर्मलिना न शक्ताः काव्यानि कर्तुं न समीक्षितुं च।
यथा कथञ्चिद् विहितः प्रयत्नः फल्गुर्भवत्याशु विनाशमेति॥[26]

कवि ने पुनः प्रतिभा को आनन्दसिन्धु की जननी बतलाया है-**समाहितानां कविता कवीनामानन्दसिन्धोर्जननी प्रतीता।**[27]

इसका उल्लेख डॉ॰ राजमङ्गल यादव ने भी अपने ग्रन्थ 'संस्कृत काव्यशास्त्र की अर्वाचीन परम्परा' के पृष्ठ 163 पर किया है।

6.11 प्रो॰ रामप्रताप वेदालङ्कार

प्रो॰ रामप्रताप वेदालङ्कार ने अपने साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थ '**चमत्कारविचारचर्चा**' में नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा को प्रतिभा कहा है जिसका स्वरूप स्फुरण है और यह चमत्कार को व्यक्त करती है। अर्थात् कहने का आशय यह है कि प्रज्ञा ही स्फुरणात्मिकी होकर उस चमत्कृति को प्रकट करती है-

प्रज्ञा सा प्रतिभा प्रोक्ता नवोन्मेषणशालिनी।
या स्फुरणात्मिकी भूत्वा व्यनक्ति तां चमत्कृतिम्॥[28]

इनका कहना है कि यदि कवि के अन्दर प्रतिभा गुण है तो काव्यार्थ का विराम नहीं होता है। यदि उसका अभाव है तो काव्यनिर्माण कार्य असम्भव होता

---

26. काव्यसिद्धान्तकारिका कारिका 31-43
27. वही कारिका 31-43
28. चमत्कारविचारचर्चा-प्रथम विचार कारिका-11

है-

न काव्यार्थ विरामोऽस्ति यदि स्यात् प्रतिभा गुणः।
त्दभावे च न भूयात्काव्यनिर्माणसम्भवः।।
शक्तिजाच्च चमत्कारात् सर्वोऽप्यर्थः प्रवर्तते।
एतत्सम्पर्कमासाद्य काव्यं काव्यमुदीर्यते।।[29]

इनका मत है कि शक्ति से उत्पन्न चमत्कार से ही सारा अर्थ प्रवृत्त होता है तथा प्रतिभा के अभाव में व्युत्पत्ति और अभ्यास को व्यर्थ माना है-

व्युत्पत्त्यभ्यासवैयर्थ्यं को लाभः शब्दलीलया।
काव्ये यदि मनाङ् नास्ति प्रतिभा सा चमत्करी।।[30]

इसके पश्चात् इन्होंने प्रतिभा की महत्ता को स्पष्ट करते हुए कहा है कि-

प्रतिभैव कवीनां साऽनर्घमाभरण मतम्।
तदयुक्तोऽकविः प्रोक्तस्तद्युक्तश्च महाकविः।।[31]

अर्थात् प्रतिभा ही कवियों का अमूल्य रत्न है उससे जो युक्त है वह महाकवि है जो युक्त नहीं है वह कवि नहीं है। प्रो० वेदालंकार ने आनन्दवर्धन का अनुसरण करते हुए कहा कि शब्दों की लीला से कुछ लाभ नहीं होता व्युत्पत्ति एवं अभ्यास व्यर्थ है यदि कवि में चमत्कारी प्रतिभा अल्पमात्रा में भी नहीं है-

शक्तिव्युत्पत्तभावे यच्छब्दानां विनियोजनम्।
प्रक्लिष्टार्थकमेतत्र काव्यं सूरिभिरुच्यते।।
अव्युत्पतिभवा दोषः शीघ्रमेव प्रतीयते।
किन्त्वशक्तिकृतो दोषः शीघ्रमेव प्रतीयते।।[32]

क्योंकि प्रो० वेदालङ्कार ने कहा है कि कवि शक्ति से समुद्भुत, कौतुकगन्ध से समन्वित, चमत्कार से समाकीर्ण काव्य किसको रुचिकर नहीं होता। सूक्ति,

29. चमत्कारविचारचर्चा-प्रथम विचार कारिका 12-13
30. वही कारिका 17
31. वही कारिका 21
32. वही कारिका-14-15

गीत, वाद्य और नायक–नायिकाओं की लीला तब काव्यास्वादकर होती है, जब उनकी प्रतिभायुक्त प्रस्तुति होती है–

कविशक्त्याः समुद्भूतं कौतुकगन्धसमन्वितम्।
चमत्कारसमाकीर्णं काव्यं कस्मै न रोचते॥
सूक्तिर्गीतञ्च वाद्यं च लीलाश्च कान्तकान्तयोः।
काव्यास्वादकरं सर्वं प्रातिभी प्रस्तुतिर्यदि॥[33]

चमत्कारमयी वाणी को सुनकर उससे अन्वित रुपक को देखकर जिसके अन्दर आह्लाद नहीं उत्पन्न होता, वे लोग शुष्ककाष्ठवत् होते हैं–

चमत्कारमयीं वाचं तदन्वितञ्च रूपकम्।
श्रुत्वा दृष्टया न हृष्यन्ति काष्ठकुड्यनिभा जनाः॥[34]

इसका उल्लेख डॉ॰ राजमङ्गल यादव ने भी अपने ग्रन्थ 'संस्कृत काव्यशास्त्र की अर्वाचीन परम्परा' के पृष्ठ 164–165 पर किया है।

6.12 प्रो॰ राधावल्लभ त्रिपाठी

प्रो॰ राधावल्लभ त्रिपाठी ने अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ **'अभिनवकाव्यालंकारसूत्र'** के प्रथम अधिकरण में कहा हैं कि कवि स्वभाव ही प्रतिभा है और इस प्रतिभा का मुख्य लक्षण स्पंद है–**यद्यपि प्रतिभा सर्वजनीना, स्पन्दस्तु कविप्रतिभायाः स्वभावः। कविस्वभाव एव तत्प्रतिभा।**[35] इन्होंने प्रतिभा के दो रूप माने है– 1.संस्कार रूपा प्रतिभा। 2. जागरिता प्रतिभा। इसमें से संस्कार रूपा प्रतिभा चैतन्य का अंश है और समस्त संसार में सर्वत्र व्याप्त है। यह प्रतिभा अविचारित रूप से व्यवहार करती हुई सभी जन्तुओं में विद्यमान है। तथा जो स्पंद से युक्त है वह जागरिता प्रतिभा है–

---

33. चमत्कारविचारचर्चा–प्रथम विचार कारिका 16–17
34. वही कारिका 21
35. अभिनवकाव्यालंकारसूत्रम् प्रथम अधिकरण अध्याय–3

प्रतिभा द्विविधा भवति-संस्काररूपा, जागरिता च। संस्काररूपा प्रतिभा चिदंशभूता चराचरात्मके समस्तेऽपि जगति सर्वत्र व्याप्ता। इयं प्रतिभा अविचारितं व्यवहरन्ती सर्वेषु जन्तुषु विद्यमाना। जागरिता स्पन्दशीला।[36] इसके पश्चात् इन्होंने कहा है कि काव्य के निर्माण के अनुकूल शब्द और अर्थ की उपस्थिति ही जागरण है और इस जागरण के हेतु गुरुपदेश आदि होते है। यद्यपि प्रतिभा बीज भूत होने से सर्व प्रधान है तथापि उसकी पूर्ति व्युत्पत्ति से होती है और अभ्यास से उसका परिष्कार होता है- **काव्यघटनानुकूलशब्दार्थोपरिस्थितिर्जागरणम्। जागरणे च हेतवोभवन्ति-गुरुपदेशः .... क्वचित्तु प्रथमं प्रतिभया वीजभूतया काव्याङ्कुरोत्पत्तिः, व्युत्पत्त्या तस्य पूर्तिरभ्यासेन च तत्परिष्कारः।**[37]

इसका उल्लेख डॉ॰ राजमङ्गल यादव ने भी अपने ग्रन्थ 'संस्कृत काव्यशास्त्र की अर्वाचीन परम्परा' के पृष्ठ 166-167 पर किया है।

6.13 प्रो॰ अभिराज राजेन्द्र मिश्र

प्रो॰ अभिराज राजेन्द्र मिश्र ने अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ '**अभिराजयशोभूषणम**' के प्रथम उन्मेष में प्रतिभा का नाम न लेते हुए उसके स्थान पर 'प्रज्ञा' शब्द का प्रयोग किया है और उसकी उत्पत्ति जन्म-जन्मान्तर के संस्कार से मानी है। उसके अभाव में शास्त्रों का पाण्डित्य प्राप्त होने पर भी कवित्व का बीज अंकुरित नहीं होता-

प्रज्ञा बीजं कवित्वस्य शक्तिरूपा चिरन्तनी।
जन्मजन्मान्तरोपात्त संस्कार प्रसवाऽमला।।
मृत्तिकाजलवायूनां सद्भावेऽपि यथाङ्कुरः।
वीजेऽसति धरागर्भे नैव जातु प्ररोहति।।[38]

---

36. अभिनवकाव्यालंकारसूत्रम् प्रथम अधिकरण अध्याय-3
37. वही प्रथम अधिकरण अध्याय-3
38. अभिराजयशोभूषणम् प्रथमोन्मेष काव्य हेतु प्रकरण पृष्ठ-36-37

इसके पश्चात् इनका मानना है कि यह पत्थर की लकीर के समान ही यह सत्य है क्योंकि इन्होंने अपने ग्रन्थ अभिराजयशोभूषणम् में कहा है कि-

तथैवाऽचरितेऽभ्यासे भूयोभूयोऽप्यनारतम्।
लब्धेऽपि शास्त्रपाण्डित्ये शतशाखेऽतिविस्तृते।।
प्रज्ञां बिना कवित्वस्य वीजं नैव प्ररोहति।
सत्यमेतद्दृषद्रेखाकल्पमूह्यं मनीषिभिः।।[39]

अर्थात् काव्य के प्रकाश को देवप्रदत्त बतलाया है। उनका मत है कि शक्ति रूपा चिरन्तनी प्रज्ञा ही कवित्व का बीज निक्षिप्त किये, अंकुर कभी उग नहीं पाता। ठीक उसी प्रकार निरन्तर, बार-बार अभ्यास करते रहने पर भी तथा सैकड़ों शाखाओं वाले अत्यन्त विस्तृत शास्त्रों का पाण्डित्य प्राप्त कर लेने पर भी एक प्रज्ञा (प्रतिभा) के अभाव में कवित्व का बीज अंकुरित नहीं हो पाता। विद्वानों के द्वारा बतलायी गयी यह सच्चाई पत्थर पर खिंची लकीर के समान मान लेनी चाहिए।

कविप्रतिभा के स्वरूप का स्पष्टीकरण करने के लिए प्रो॰ मिश्र ने अपने द्वारा रचित ग्रन्थ अरण्यानी के पद्य को भी प्रस्तुत किया है, जिसमें वे कहते हैं कि-

नाहं करोमि कवितामिह शारदैव साऽऽत्मामञ्जयति मत्कवनच्छलेन।
गन्धं तनोति जलजं न निजप्रभावाद् विस्फूर्जितं सकलमेवत दर्कलक्ष्म्याः।।[40]

अर्थात् मै स्वयं कविता नहीं लिखता वस्तुतः स्वयं भगवती शारदा ही मेरी कविता के बहाने अपने को इस संसार में प्रकाशित करती हैं। कमल पुष्प अपने व्यक्तिगत प्रभाव से परिमल नहीं बिखेरता है। वह सब तो बस, दिवसलक्ष्मी का विस्फूर्जन है।

---

39. अभिराजयशोभूषणम् प्रथमोन्मेष काव्य हेतु प्रकरण पृष्ठ-36-37
40. वही प्रथमोन्मेष काव्य हेतु प्रकरण पृष्ठ-36-37

प्रो॰ मिश्र का मानना है कि भगवती सरस्वती की कृपासृष्टि के बिना कवि काव्यरचना नहीं कर सकता। वह जो कुछ करता है उस सब का मूल कारण दैवी प्रसाद है। इसी का स्पष्टीकरण करते हुए कवि ने बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते के एक पद्य को भी उद्धृत किया है, जिसमें कवि कह रहा है कि-

कवयतुतरां लोकः किञ्चित्कृतागमसञ्चरः
परिचितधरानर्थनेतान् नवानिव भावयन्।
जनयितुमलं स्निग्धां दुग्धाम्बुधेरिव वीचिका
शिवसति भवद्वीक्षा द्राक्षामयीं कविताझरीम्।।[41]

अर्थात् कहने का आशय यह है कि थोड़ा बहुत आगम वाङ्मय से परिचित लोग कविता लिखा करें, चिरपरिचित उन-उन भावों को नये-नये रूपों में ढालते हुए। परन्तु क्षीरसागर की लहरियों के समान स्निग्ध, द्राक्षामयी कविताझरी की रचना कराने के लिए तो हे मृडानी! तुम्हारी कृपादृष्टि ही समर्थ है।

इसका उल्लेख डॉ॰ राजमङ्गल यादव ने भी अपने ग्रन्थ 'संस्कृत काव्यशास्त्र की अर्वाचीन परम्परा' के पृष्ठ 168 पर किया है।

6.14 प्रो॰ रहस बिहारी द्विवेदी

प्रो॰ रहस बिहारी द्विवेदी ने काव्य के कारण पर अपना मत व्यक्त करते हुए बतलाया कि काव्य के उपयोगार्थ शब्द और अर्थ की प्रतिभामयी उपस्थिति, निपुणता तथा लोकशास्त्र आदि विधाओं का ज्ञान होने पर ही काव्य की रचना होती हैं-

काव्योपयोगिशब्दार्थोपस्थितिःप्रतिभामयी।
नैपुण्यं लोकशास्त्राणां विधाज्ञानं च कारणम्।।[42]

इसका उल्लेख डॉ॰ राजमङ्गल यादव ने भी अपने ग्रन्थ 'संस्कृत काव्यशास्त्र की अर्वाचीन परम्परा' के पृष्ठ 168-169 पर किया है।

41. अभिराजयशोभूषणम् प्रथमोन्मेष काव्य हेतु प्रकरण पृष्ठ-36-37

42. दूर्वा-द्वितीयोन्मेष अप्रैल-मई-जून-2005

उपसंहार

प्रतिभा को वैदिक युग से ही काव्य का चेतना में स्फुरण कराने वाली अथवा विषय का अन्तः करण में साक्षात्कार कराने वाली शक्ति माना गया था। प्रतिभा चेतना में संस्कार-रूप में विद्यमान अन्तः स्तिमित भाव को प्रत्यक्ष सा दर्शाती है। इसीलिये इसके इस कार्य को वैदिक साहित्य में 'दर्शन' नाम से अभिहित किया गया है। इसी परम्परा में आगे चलकर दर्शन को प्रतिभा के पर्याय के रूप में स्वीकार किया गया। ऋग्वेद के स्कन्द-भाष्य में सूक्त या काव्य का प्रतिभात होना तथा उसका दर्शन ये दोनों प्रयोग पर्याय के रूप में एक ही स्थल पर किये गये हैं। इस प्रकार वैदिक अवधारणा में दर्शन, प्रतिभान तथा आत्मसाक्षात्कार- ये शब्द समानार्थी है।

भारतीय दर्शन में प्रतिभा का विवेचन अध्यात्म की दृष्टि से ही नहीं, अपितु काव्यतत्त्व की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। वस्तुतः उपनिषद्, योग तथा शैव दर्शनो में प्रतिभा को लेकर जो तत्त्व प्रस्तुत किया गया है, उसी के द्वारा काव्यचिन्तन की पीठिका निर्मित हुई वैदिक और अवैदिक सभी दर्शनो में प्रतिभा, प्रज्ञा, चक्षु, दर्शन, संवित या केवल ज्ञान आदि विभिन्न नामों से जिस तत्त्व का निर्वचन किया गया है, विभिन्न दर्शनों में भिन्न-भिन्न दार्शनिक पृष्ठ भूमियों में आकलित होने के कारण कहीं-कहीं, तत्सम्बन्धी धारणाओं में सूक्ष्म अन्तर भलें ही प्रतीत हो, पर एक ऐसी शक्ति की सत्ता स्वीकार करते हैं। जो इस लौकिक जगत की सृष्टि करते है। काव्यशास्त्रियों ने काव्यप्रतिभाा के विषय में जो कुछ कहा है, वह दर्शन के क्षेत्र में प्रतिभा की अवधारणा को दृष्टि में रखकर ही कहा है। शैवदर्शन में तो स्पष्ट रूप से परम शिव की शक्ति या परा-प्रतिभा तथा कवि-प्रतिभा इन दोनों की एकरूपता स्वीकार की गयी है। जिस प्रकार आध्यात्मिक प्रतिभा के धरातल पर पहुँच कर साधक के भीतर अतीत अनागत पदार्थ भी प्रत्यक्ष हो उठते हैं, उसी प्रकार सर्जना की दिशा में कवि के मानस में प्रज्ञा का उन्मेष होने पर भूत-भविष्य में विद्यमान समस्त पदार्थ उसके भीतर साकार हो उठते हैं। इस विचार को प्रतिभा विवेचन के समय समस्त काव्यशास्त्रियों ने सदैव उपस्थित

किया। अध्यात्म के क्षेत्र में जिस प्रकार प्रतिभा को आनन्द रूप माना गया, उसी प्रकार काव्यरचना की स्थिति में आनन्दोच्छलिता शक्तिः सृजयात्मानमात्मना का सिद्धान्त दर्शन से ग्रहण करके काव्य प्रतिभा के सम्बन्ध में भी लागू किया गया है। कवि के भीतर जो शक्ति या प्रतिभा रहती है वह भी एक अलौकिक जगत की सृष्टि करती है अतः आध्यात्मिक प्रतिभा के आधार पर ही काव्य प्रतिभा की व्याख्या करना सर्वथा संगत है।

संस्कृत काव्यशास्त्र पर इस अवधारणा का प्रभाव पड़ा है। हेमचन्द्र के द्वारा काव्यप्रतिभा के विवेचन में उद्धृत ये पंक्तियाँ स्पष्ट रूप से प्रतिभा सम्बन्धी वैदिक सम्बन्धी वैदिक अवधारणा से प्रभावित हैं-

नानृषिः कविरित्युक्त ऋषिश्च किल दर्शनात्।
तावन्नोदिता कविता यावज्जाता न वर्णना।।
विचित्रभावधर्माशत्त्वप्रख्या च दर्शनम्।
स तत्त्वदर्शनादेव शास्त्रेषु पठितः कविः।।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में चिर अतीत में काव्य के हेतु के रूप में दैवीशक्ति को स्वीकार किया जाता था। इन विचारकों का मत था कि दैवी प्रेरणा से ही काव्याभिनिवेश और प्रतिभा शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। अनेकशः इस प्रकार के उल्लेख पाये जाते हैं जिनमें बतलाया गया है कि वाग्देवता के आवेश से ही काव्य के अनुकूल प्रतिभा का प्रादुर्भाव हुआ। पाश्चात्य विद्वानों ने काव्यहेतु के रूप में प्रतिभा को ही अधिकांश रूप में स्वीकार किया है। यही विचार अधिकांश भारतीय मनीषियों का भी है। क्रोञ्चे ने अन्तर्दृष्टि अन्तःप्रवृत्ति, चिन्तन, कल्पना, विचार अलंकरण की प्रवृत्ति और प्रतिनिधित्व की आकांक्षा को काव्यप्रेरणा में अत्यधिक महत्व दिया है। ली हन्ट ने प्रत्युत्पन्नमति को भी काव्य का प्रेरक बतलाया है।

एस० टी० कोलरिज की निष्ठा कल्पना शक्ति पर अत्यधिक थी। उनके मतानुसार कल्पना काव्य का सर्वप्रमुख महत्त्वपूर्ण तत्व है। इस निर्माण कुशला प्रतिभा को इसेम्पलेस्टिक इमैजिनेशन के नाम से पुकारते है। प्लेटों की प्रतिभा के

रूप की पाश्चात्य जगत में प्रथम अभिव्यक्ति है। इनके दृष्टि में काव्यों की महनीयता तथा सुन्दरता का कारण बाह्य न होकर अन्तः स्फुरण ही मुख्य है। यह अन्तःस्फुरण काव्यदेवी की कृपा से प्राप्त होता है। आगे चलकर अरस्तू ने दैवी प्रेरणा को अस्वीकार करते हुए मानव के अनुसरण द्वारा ज्ञान लाभ प्राप्त करना और साथ ही वह सामञ्जस्य का भी प्रेमी है। यह अनुकरण और सामञ्जस्य की प्रवृत्ति ही मानव को काव्यरचना में प्रवृत्त करती है। इसका आशय यह नहीं है कि अरस्तू कविता का कारण नहीं हो सकती। उसने अनेकशः इस बात का प्रतिपादन किया है कविता अन्तःस्फूर्ति तत्व है। यह अन्तःस्फूर्त तत्त्व प्रतिभा के हेतुओं से अधिकाधिक अपना स्थान बताया गया है।

लोजांइस ने प्रतिभा के बारें में कहा है कि प्रतिभा सम्पन् कलाकार मात्र अपनी ही बात नहीं मनवाता बल्कि श्रोता या दर्शक को एक विशिष्ट लोक में ले जाता है। अलेक्जेन्डर पोप के विचारानुसार प्रत्येक कवि और आलोचक को प्रतिभा सम्पन्न होना चाहिए। आई॰ ए॰ रिचर्डस के अनुसार कवि प्रतिभा नवनवोन्मेषशालिनी तथा अपूर्व वस्तु निर्माण क्षमा बतलाया। प्रतिभा के सम्बन्ध में हमें यह धारणा पाश्चात्य चिन्तन की कल्पना से उसके समय पर सोचने को बाध्य करती है। मैथ्यू आर्नण्ड ने उत्कृष्ट साहित्य की रचना के लिये दो शक्तियो का साथ-साथ होना आवश्यक माना है कारयित्री शक्ति और पुत्र की शक्ति। कारयित्री शक्ति से उसका अभिप्राय सर्जन कौशल से है। जाकमारिते ने सहानुभूति को मनुष्य के अहं से सर्वथा भिन्न और विपरीत बताते हुए काव्यसृजन को अहंशून्य अनासक्त व्यापार कहा है।

कवि कल्पना और प्रतिभा के अन्तः सम्बन्ध पर विचार करने वाले विद्वानों में पाश्चात्य काव्यशास्त्र के विद्वान है। उन्होंने कल्पना और प्रतिभा की धारणाओं में तारतम्य स्थापित करते हुए कहा है कि साधारण रूप हम कवि कल्पना से अवान्तर तत्त्व प्रतीति, मनः कल्पित काव्य शोभा, रूप और अरूप का द्वन्द वर्णना भंगी, कवि के अर्न्तगत भावोल्लास आदि कतिपय साधारण कवि व्यापारों का ग्रहण करते है किन्तु कवि प्रतिभा के भीतर जब बाहर की वस्तु या तत्त्व को विशेष भाव दृष्टि की सहायता से अभिन्न रूप में प्रकट करते है। कल्पना में भी

नवोन्मेष को एक तत्त्व माना गया है और भारतीय चिन्तको की प्रतिभा में भी। पश्चिम में कल्पना नूतन सृष्टि विधायिनी शक्ति के रूप में निरूपित है।

आधुनिक संस्कृत काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने संस्कृत के प्राचीन वाङ्मय में प्रतिभा सम्बन्धी परिकल्पना को यथावत आत्मसात् किया है। प्राचीन संस्कृत काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने प्रतिभा को मात्र दिव्य अनिवर्चनीय शक्ति कहा है उसी का अनुसरण आधुनिक विद्वानों ने किया है प्रतिभा का जो स्वरूप वैदिक वाङ्मय से लेकर प्राचीन आकार ग्रन्थों में प्रकाशित किया गया है, उसके आधार पर प्रतिभा को सर्वथा अव्याख्येय नहीं कहा जा सकता। प्राचीन आचार्यों ने व्यावहारिक बुद्धि आदि से भिन्नता बतलाने के लिये प्रतिभा को अलौकिक तथा दिव्य अवश्य कहा है पर साथ ही उसके स्वरूप तथा कर्तव्य की विशद व्याख्या भी की है। आधुनिक संस्कृत साहित्य के विद्वान काव्य के रचना प्रक्रिया के व्याख्या के लिये प्रायः पाश्चात्य काव्यशास्त्रीयों का अनुसरण करते हुए कल्पना तत्व का विवेचन किया गया है पर कल्पना की व्यापक अवधारणा न होने से सृजन प्रक्रिया की पूरी व्याख्या नहीं कर पाती। ऐसी स्थिति में प्रतिभा की प्राचीन महती अवधारणा को आधुनिक चिन्तन के धरातल पर स्वीकार करना और भी आवश्यक हो जाता है।

***

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

मूलग्रन्थ

(1) **अभिज्ञानशाकुन्तलम्**- कालिदास, निर्णय सागर प्रेस

(2) **अभिनवकाव्यप्रकाश**- शास्त्री गिरिधर लाल व्यास, व्यास बन्धु प्रकाशन, उदयपुर, राजस्थान प्र. स. 1985

(3) **अभिनवकाव्यालंकारसूत्रम्**- त्रिपाठी राधावल्लभ, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी प्र.स. 2005

(4) **अभिनवकाव्यशास्त्रम्**- अवतरे शंङ्करदेव, साहित्य सहकार प्रकाशन दिल्ली द्वि.स. 2001

(5) **अभिराजयशोभूषणम्**- मिश्रराजेन्द्र वैजयन्त प्रकाशन इलाहाबाद प्र.स. 2006

(6) **अग्निपुराण** :अग्निपुराणकार (सम्पा.) बलदेव उपाध्याय, चौखम्भा सीरीज, वाराणसी, 1966

(7) **अभिनव भारती के तीन अध्याय** :अभिनव गुप्त, (सम्पा.) नगेन्द्र, हिन्दी विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली प्र.स. 1960

(8) **अभिधावृत्तमातृका** :मुकुलभट्ट, ब्रह्ममित्र अवस्थी (सम्पा. एवं व्याख्या) इन्दु प्रकाशन दिल्ली 1977

(9) **अलंकार सर्वस्व** : रुय्यक, श्री विद्याचक्रवर्ती कृत संजीवनी टीकोपेथ तथा हिन्दी व्याख्या सहित (व्याख्या.) डा. रामचन्द्र द्विवेदी, मोतीलाल बनारसी दास दिल्ली, 1965 चौखम्भा संस्कृत सीरीज वाराणसी

(10) **अलंकारकौस्तुभ** : कर्णपूर, (सम्पा. एवं व्याख्या.) रविशंकर नागर, परिमल पब्लिकेशन, दिल्ली, 1981

(11) **ईश्वरप्रत्याभिज्ञाविमर्शिनी**- अभिनवगुप्त कश्मीर संस्कृत सीरीज श्रीनगर

(12) **उत्तररामचरित**- भवभूति यदुपाल पाल सिंह इलाहाबाद 1945

(13) **औचित्य विचार चर्चा** : क्षेमेन्द्र (व्याख्या.) व्रजमोहन झा चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1982

(14) **कविकण्ठाभरण** : क्षेमेन्द्र, काव्यमाला गुच्छ चतुर्थ

(15) **काव्यप्रकाशः** मम्मट, (सम्पा. एवं व्याख्या.) विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, ज्ञानमण्डल लिमिटेड वाराणसी, 1998

(16) **काव्य मीमांसा** : राजशेखर, (सम्पा. एवं व्याख्या.) केदारनाथशर्मा, विहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना, 2000

(17) **काव्यादर्श** : दण्डी, (सम्पा. एवं व्याख्या.) डा. क्षेमेन्द्र कुमार गुप्त, मेहर चन्द्र लक्ष्मणदास, दिल्ली,1973

(18) **काव्यालंकारकारिका**- द्विवेदी रेवा प्रसाद चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी प्र.स. 1977

(19) **काव्यालंकार** : भामह, (सम्पा. एवं व्याख्या.) देवेन्द्रनाथ शर्मा, विहार राष्ट्र भाषा-परिषद् पटना, 1985

(20) **काव्यात्मा**-दीक्षित हरिश्चन्द्र, एक्सप्रेस प्रिंटिंग प्रेस, कानपुर प्र.स. 1985

(21) **काव्यालंकार सूत्र** : रुद्रट, (सम्पा. एवं व्याख्या.) रामदेव शुक्ल, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी, 1989

(22) **काव्यतत्त्वविमर्श**- दीक्षित हरिश्चन्द्र देशा प्रिंटिंग प्रेस, कानपुर प्र.स. 1995

(23) **काव्यालंकार सूत्रवृत्ति** : वामन, (सम्पा. एवं व्याख्या.) डा. वेचन झा, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1991

(24) **काव्यालंकार सारसंग्रह एवं लघुवृत्ति व्याख्या :** उद्भट, हिन्दी सा. स., प्रयाग, 1996

(25) **काव्यतत्त्वविवेक**- तिवारी रमाशंकर, भारतीय विद्या प्रकाशन दिल्ली, वाराणसी प्र.स. 1996

(26) **काव्यानुशासन :** हेमचन्द्र, (सम्पा. एवं व्याख्या.) डा. रामानन्द शर्मा, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 2000

(27) **काव्यासिद्धान्तकारिका**- पाण्डेय अमरनाथ अजस्रा, अखिल भारतीय संस्कृत परिषद् लखनऊ, जनवरी-अप्रैल में प्रकाशित 2001

(28) **किरातार्जुनीयम् :** भारवि, शारदा भवन काशी 1931

(29) **चमत्कारविचारचर्चा :** वेदालंकार रामप्रताप, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियार पुर, पंजाब प्रथम संस्करण, 2004

(30) **चन्द्रालोक :** जयदेव, रमाव्याख्या सहित, 8 ससूनबिल्डिंग्स-सर्किल फोर्ट बम्बई 1933ई.

(31) **तंत्रालोक**-अभिनवगुप्त कश्मीर संस्कृत सीरीज, श्रीनगर

(32) **दशरूपक :** धनञ्जय, (सम्पा. एवं व्याख्या.) सुधाकर मालनीव, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, बनारस, 1990

(33) **ध्वन्यालोक लोचन**-चौखम्भा संस्कृत सीरीज अभिनवभारती, गायकयाड़ ओरियन्टल सीरीज बड़ौदा

(34) **दशोपनिषद्स (दोमान)** - कुन्हनरामा अड्यार मद्रास 1936

(35) **ध्वन्यालोक :** आनन्दवर्धन, (सम्पा. एवं व्याख्या.) विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि ज्ञानमण्डल लिमिटेड वाराणसी, 1998

(36) **नाट्यशास्त्र :** भरतमुनि (सम्पा. एवं व्याख्या.) बटुक नाथ शर्मा एवं बलदेव उपाध्याय चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1980

(37) नाट्यनुशासनम्- द्विवेदी रेवा प्रसाद, कालिदास संस्थानम्, वाराणसी

द्वि.स. 2008

(38) **मालविकाग्निमित्र**- कालिदास, निर्णय सागर प्रेस

(39) **नैषधमहाकाव्य** : श्रीहर्ष, चौखम्भा संस्कृत सीरीज वाराणसी, 9953

(40) **रघुवंश**- कालिदास, निर्णय सागर प्रेस

(41) **प्रतापरुद्र यशोभूषण** : विद्यानाथ, (सम्पा. एवं व्याख्या.) रत्नापट्टिका राजकीय ग्रन्थ माला बम्बई1909

(42) **बालरामायण** : राजशेखर मेडिकल हालप्रेस बनारस सं. 1926

(43) **भावप्रकाशन** : शारदातनय, सम्पादक प्रो. मदनमोहन अग्रवाल चौखम्भा सुरभारती ग्रन्थमाला वाराणसी, 1983

(44) **महाभारत**- व्यास, भंडारकर ओरियण्टल इंस्टीट्यूट सा (17 भाग)

(45) **महाभाष्य** : पतंजलि, निर्णय सागर प्रेस बम्बई 1952

(46) **मालती माधव** : भवभूति, गवर्नमेंट सेन्ट्रल बुकडिपो बम्बई 1905

(47) **रामायण**- वाल्मीकि चौखम्भा विद्या भवन 1957

(48) **रसगंगाधर** : पण्डितराज जगन्नाथ, (सम्पा. एवं व्याख्या.) चौखम्भा विद्या भवन वाराणसी, 2001

(49) **रसार्णवसुधाकर** : सिंगभूपाल, (सम्पा. एवं व्याख्या.) डा. रेवाप्रसाद द्विवेदी, संस्कृत परिषद्, सागर विश्वविद्यालय सागर मध्यप्रदेश 1969

(50) **लोचन अभिनवगुप्त** : (ध्वन्यालोक की टीका) निर्णय सागर प्रेस बम्बई 1911

(51) **वैशेषिक सूत्र**- कणाद

(52) **वक्रोक्ति जीवितम्** : कुन्तक, (सम्पा. एवं व्याख्या.) राधेश्याम मिश्र चौखम्भा संस्कृत संस्थान वाराणसी, 2007

(53) **व्यक्तिविवेक** : महिमभट्ट, (सम्पा. एवं व्याख्या.) रेवाप्रसाद द्विवेदी

चौखम्भा संस्कृत संस्थान वाराणसी, 1987

(54) **वाक्यपदीय** : भर्तृहरि, सम्पा. के. एस अय्यर, भण्डारकर रिसर्च सेन्टर, पूना, 1963

(55) **शिशुपालवधम्** : माघ, निर्णयसागर प्रेस बम्बई 1914

(56) **सांख्य योग कोश**- केदारनाथ त्रिपाठी वाराणसी 1974

(57) **सरस्वती कण्ठाभरण** : भोज, (सम्पा. एवं व्याख्या.) कामेश्वर नाथ मिश्र चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी 1979

(58) **साहित्य दर्पण** : विश्वनाथ, व्याख्याकार डा. सत्यव्रत सिंह, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी, 1976

(59) **साहित्यमञ्जरी**-हसूरकर श्री पाद शास्त्री, महाराजा होल्कर संस्कृत महाविद्यालय इन्दूर प्र.स. 1940

(60) **साहित्यविमर्श**- शर्मा कौत्स अप्पल्ल सोमेश्वर तिरुमला तिरुपति देव स्थानम् प्रेस तिरुपति आन्ध्र प्रदेश प्र. स. 1951

(61) **साहित्यसार**- कविसर्वेश्वर, तिरुमला तिरुपति देव स्थान

(62) **हर्षचरित** : बाण, वाचस्पत्यम प्रेस कलकत्ता 1939

सहायक ग्रन्थ

(1) **अग्निहोत्री डॉ. प्रभुदयाल**- श्रृंगार प्रकाश : एक अध्ययन, क.प्र.हि. र. म. 1981

(2) **अवस्थी बच्चूलाल**- ध्वनिसिद्धान्त तथा तुलनीय साहित्य चिन्तन, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी मध्यप्रदेश भोपाल 1972

(3) **उपाध्याय, बलदेव**- भारतीय साहित्यशास्त्र भाग 1, 2 भा. व. उ. प्रसाद परिषद् काशी वि. सं. 2007

(4) **उपाध्याय, बलदेव**- संस्कृत वाङ्मय का वृहद् इतिहास (अष्टम

खण्ड) काव्याशास्त्र, उत्तरप्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, 2001

(5) **उपाध्याय डा. रामजी**- संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, रामनारायण लाल बेनी माधव, इलाहाबाद, 2018

(6) **कथूरिया सुन्दर लाल**- रससिद्धान्त आक्षेप और समाधान, आदर्श साहित्य प्रकाशन 1972

(7) **कवि सर्वेश्वर**- साहित्यसार, श्री वेकेंटश्वर प्राप्य ग्रन्थमाला 1952
काललेकर तथा नगेन्द्र- भारतीय काव्यसिद्धान्त, नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली

(8) **काणे, पी.वी.**- संस्कृत शास्त्रों का इतिहास, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1966

(9) **काणे, पी.वी.**- संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, अनुवादक इन्द्रचन्द्र शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1966

(10) **कालेलकर**, आचार्य काका- भारतीय काव्यशास्त्र, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1969

(11) **कुमार कृष्ण**- अलंकार शास्त्र का इतिहास, साहित्य भण्डार मेरठ

(12) **कुमारी, मृदुला जोशी**-संस्कृत काव्य परिभाषाओं का आलोचनात्मक अध्ययन, इण्डोविजन प्राइवेट लिमिटेड, गाजियाबाद, 1986

(13) **गणेश त्र्यम्बक देशपाण्डेय**- भारतीय साहित्यशास्त्र, पापुलर बुक डिपो बम्बई 1960

(14) **गैरोला, वाचस्पति**- संस्कृत साहित्य का इतिहास, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, वि.स. 2016

(14) **गुप्त, अभिनव**-अभिनव भारती भाग-1-4, गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज, बड़ौदा, द्वितीय संस्करण

(15) **गुप्त डा. प्रेमस्वरुप**- रसगंगाधर का समीक्षात्मक अध्ययन भारत प्रकाशन मन्दिर अलीगढ़ वि सं 2018

(16) **चतुर्वेदी व्रजमोहन**- व्यक्तिविवेक, नेशनल पब्लिसिंग हाउस दरियागंज दिल्ली 1968

(17) **चौधरी सत्यदेव एवं डॉ. शान्तीस्वरुप**-भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र का संक्षिप्त विवेचन, अशोक प्रकाशन दिल्ली 1978

(18) **चौधरी डॉ. सत्यदेव**- काव्यशास्त्र के परिदृश्य, अलंकार प्रकाशन झील दिल्ली प्रथम सं. 1975

(19) **जोशी, ठाकुर दत्त**- संस्कृत काव्यशास्त्र में लक्षणा का उद्भव एवं विकास, राजस्थानी ग्रन्थालय, जोधपुर, जनवरी, 1986

(20) **डे., सुशील कुमार**- संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास भाग 1-2, अनुवादक मायाराम शर्मा, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, प्रथम संस्करण, 1973

(21) **द्विवेदी पारसनाथ**- भारतीय दर्शन, आगरा 1993

(22) **नगेन्द्र डॉ.**- भारतीय काव्यशास्त्रीय की भूमिका, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1963

(23) **नगेन्द्र डॉ.**- भारतीय साहित्यशास्त्र की भूमिका दिल्ली 1955

(24) **पाण्डेय डॉ. त्रयम्बक देश**- भारतीय साहित्य शास्त्र प्रत्युप्रकार बुक डिपो बम्बई 1960

(25) **पाण्डेय सिद्धनाथ**- भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र, साहित्य भण्डार मेरठ 1976

(26) **पाण्डेय भारतेन्दु**- काव्यानुशासन विमर्श, विद्यानिधि प्रकाशन दिल्ली 2008

(27) **भाटी देशराज सिंह- भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र, अशोक**

प्रकाशन दिल्ली 1977

(28) **मिश्र विश्वनाथ**- रसमीमांसा-आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी समा, वाराणसी, षष्ठ सं. सं. 2048

(29) **मिश्रा विश्वनाथ प्रसाद**- वाङ्मय विमर्श पूर्ण प्रकाशन वाराणसी सन् 2014

(30) **मिश्र डॉ. शोभाकान्त**- काव्यगुणों का शास्त्रीय विवेचन, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी पटना 1972

(31) **यादव डॉ. राजमंगल**- संस्कृत काव्यशास्त्र की अर्वाचीन परम्परा, प्रतिभा प्रकाशन दिल्ली, 2011

(32) **व्यास डॉ. भोलाशंकर**- भारतीय साहित्य शास्त्र और काव्यालंकार वाराणसी 1965

(33) **शर्मा रामलाल**- अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग, नेशनल पब्लिशिंग, हाउस दिल्ली 1959

(34) **शास्त्री डॉ. रामलाल**- अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली 1969

(35) **शास्त्री अमीरचन्द्र**- रससिद्धान्त, डा. नगेन्द्र रचित, लालबहादुर शास्त्री केन्द्रीय विद्यापीठ दिल्ली 1973

(36) **शास्त्री, भरद्वाज डॉ. शिवप्रसाद**- संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य बिम्ब विवेचन

(37) **शुक्ल कालिका प्रसाद**- त्रिवेणिका, आशाधर भट्ट सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी 1973

(38) **सिंह राजकिशोर**- भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धान्त, लखनऊ रेलवे क्रासिंग सीतापुर 1982

(39) **हीरा सहाय राजवंश- भारतीय काव्यशास्त्र के प्रतिनिधि सिद्धान्त**

चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी 1967

(40) **त्रिपाठी जयशंकर**- आचार्य दण्डी एवं संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास दर्शन, लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद 1968

(41) **त्रिपाठी डॉ. छविनाथ**- चम्पूकाव्य का आलोचनात्मक एवं ऐतिहासिक अध्ययन चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी

(42) **त्रिपाठी रामसागर और श्याममिश्र**- समीक्षाशास्त्र के भारतीय एवं पाश्चात्य मानदंड अशोक प्रकाशन दिल्ली 1972

(43) **त्रिपाठी राधावल्लभ**- संस्कृत कवियों के व्यक्तित्व का विकास सागर 1976

(44) **त्रिपाठी राममूर्ति**- भारतीय काव्यशास्त्र की नयी व्याख्या इलाहाबाद 1973

(45) **त्रिपाठी डॉ रामसागर मिश्र डॉ॰ श्याम**- समीक्षाशास्त्र के भारतीय तथा पाश्चात्य मानदण्ड अशोक प्रकाशन नई दिल्ली-06

(46) **पाण्डेय डॉ॰ अरविन्द**- पाश्चात्य काव्यशास्त्र : एक दृष्टि जवाहर पुस्तकालय मथुरा उत्तरप्रदेश

ENGLISH REFERENCE

[1] Arvind-The future poetry , Arvind ashram pandicheri 1953

[2] Chatturvedi, B.M., Some unexplored ascepts of the Rasa Theory, Vidyanidhi Prakashan, ed.1906

[3] De, S.K; History of Sanskrit Poetics..,Firma KLM PVT Ltd.Calcutta,1976.

[4] Gnoli, Raniero; The Aesthetic experience according to Abhinavagupta; Chowkhamba Sanskrit Series, Varansi, 1968

[5] Gha Ganga Nath- purva mimansa in its sorces Bhanaras Hindu University 1964.

[6] Kunjani Raja- Indian theories of word and meaning Adyar 1969

[7] Kane, P.V, History of Sanskrit Poetics, MLBD, Delhi, f.ed. 1961

[8] Keith, A.B; History of Sanskrit Literature, Oxford, 1928

[9] Pandey Kanti Chand- Abhinav Gupta : A historical and philosophical study , chaukhambha Sanskrit series 1965

[10] Raghvan, V.- The Number of Rasas, University of Madrass, 1949, Adyar Library Adyar,1940

[11] Raghvan,V.-Some Concepts of Alankar Sastras, Adyar Library, Adyar, 1942.

कोष

(1) आप्टे, वामनशिवरामः **'संस्कृत हिन्दी कोष'** मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1966

(2) देव, राधाकान्तः **'शब्दकल्पद्रुम'**, मोतीलाल बनारसी, दिल्ली, 1961

(3) भट्ट, हलायुधः **'हलायुध कोष'** अभिधानरत्नमाला सरस्वती भवन, वाराणसी,1879

(4) सिंह, अमरः **'अमरकोष'** चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी 1995

(5) William S.M. Monier; A Sanskrit English Dictionary, Motilal Banarasidass, Delhi, 1984

पंत्रिकाएँ

अजस्रा, अखिल भारतीय संस्कृत परिषद्, महात्मागाँधी मार्ग, लखनऊ, उत्तर प्रदेश

उशती, गङ्गानाथ झा शोध-संस्थान, कम्पनी बाग, इलाहाबाद, उत्तरप्रदेश

दृक्, दृक् भारती-झूँसी-इलाहाबाद, उत्तर प्रदेश

दूर्वा, कालिदास अकादमी (विक्रम विश्वविद्यालय) उज्जैन मध्य प्रदेश

विश्वसंस्कृतम्, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध-संस्थान, साधु आश्रम, होशियारपुर, पंजाब

शोध-प्रभा, श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, दिल्ली

सागरिका, डा. हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, मध्य प्रदेश

***

[7] Kane, P.V, History of Sanskrit Poetics, Motilal, Delhi, 2ed. 1961

[8] Keith, A.B., History of Sanskrit Literature, Oxford, 1928

[9] Pandey Kanti Chand- Abhinav Gupta - A Historical and philosophical study, chaukhambha Sanskrit series 1963

[10] Raghvan, V. The Number of Rasas, University of Madras, 1940, Adyar Library, Adyar, 1940

[11] Raghavan, V. Some Concepts of Alankara Shastra, Adyar Library, Adyar, 1942

[illegible]

(1) [illegible] 1966

(2) [illegible]

(3) [illegible]

(4) [illegible]

(5) William S.M. Monier, A Sanskrit English Dictionary, Motilal Banarasidass, Delhi, 1984

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

***

ISBN 812170266-6
9 788121 702669

₹ 300

भारतीय विद्या प्रकाशन

1 यू.बी., जवाहर नगर, बंग्लो रोड, पो. बॉक्स नं. 2144, दिल्ली-110007
फोन : 011-23851570, 23850944 मो. : 09810910450, 09968334546
e-mail : bvpbooks@gmail.com

शाखा कार्यालय

1. 5824, न्यू चन्द्रावल (नजदीक शिव मन्दिर), जवाहर नगर, दिल्ली-110007
2. पोस्ट बॉक्स 1108, सी.के. 32/30, नेपाली खपड़ा, कचौड़ी गली, वाराणसी-221001 (उत्तर प्रदेश)
फोन : 0542-2392376, मो. : 09415202477, 78

ISBN 812170266-6
9 788121 702669

₹ 300

भारतीय विद्या प्रकाशन
1 यू.बी., जवाहर नगर, बंग्लो रोड, पो. बॉक्स नं. 2144, दिल्ली-110007
फोन : 011-23851570, 23850944 मो. : 09810910450, 09968334546
e-mail : bvpbooks@gmail.com

शाखा कार्यालय
1. 5824, न्यू चन्द्रावल (नजदीक शिव मन्दिर), जवाहर नगर, दिल्ली-110007
2. पोस्ट बॉक्स 1108, सी.के. 32/30, नेपाली खपड़ा, कचौड़ी गली, वाराणसी-221001 (उत्तर प्रदेश)
फोन : 0542-2392376, मो. : 09415202477, 78